150 YEARS OF CELEBRATING THE MAHATMA

अनासक्ति दर्शन

हिंसामुक्त समाज की अन्तरराष्ट्रीय पत्रिका

जुलाई 2019 – अगस्त 2020

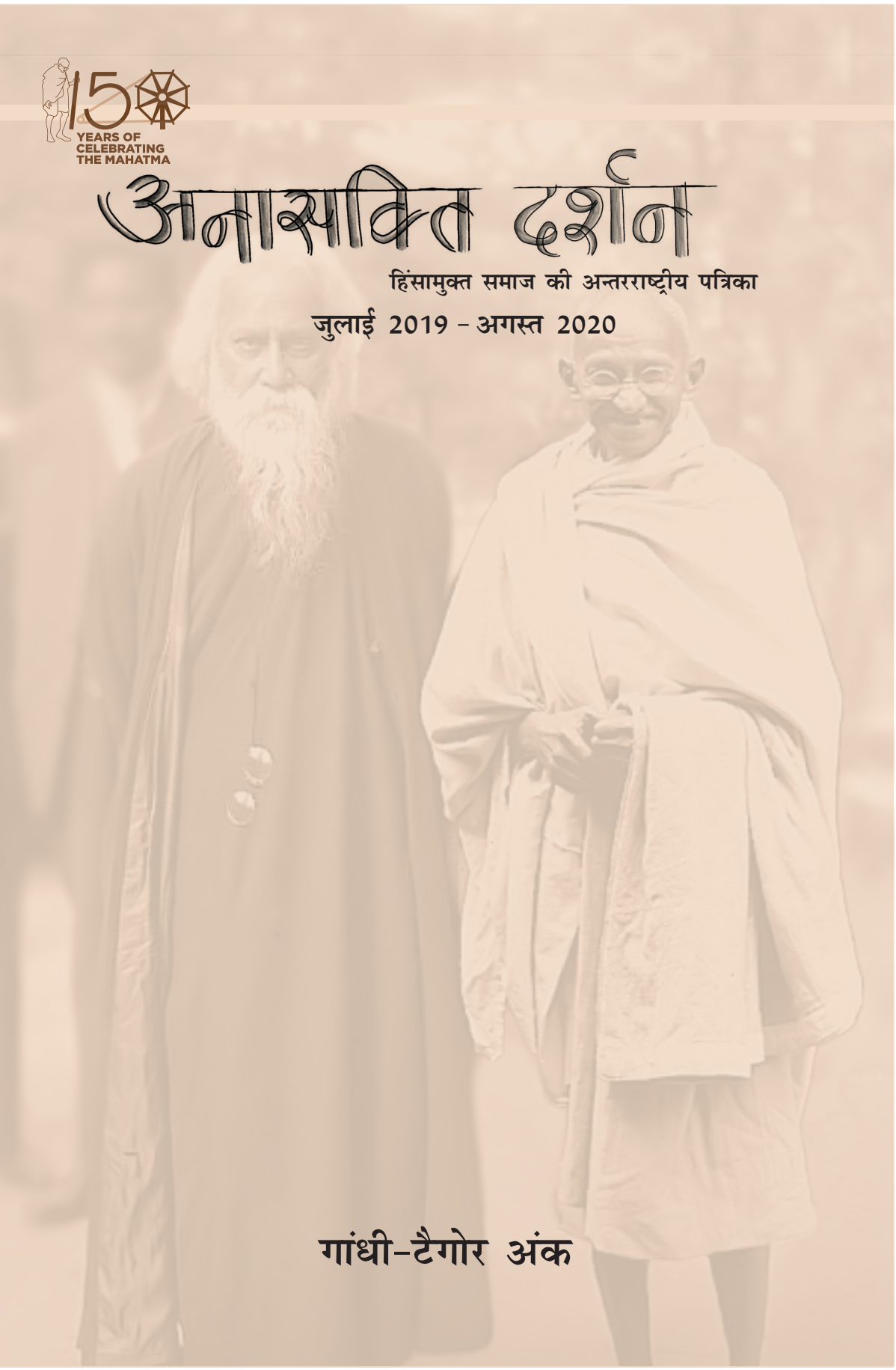

गांधी-टैगोर अंक

अनासक्ति दर्शन

हिंसामुक्त समतामूलक समाज निर्माण की अन्तरराष्ट्रीय पत्रिका

जुलाई 2019–अगस्त 2020

प्रधान सम्पादक
दीपंकर श्री ज्ञान

सम्पादक
प्रवीण दत्त शर्मा

सह–सम्पादक
पंकज चौबे

गांधी स्मृति एवं दर्शन समिति
(स्वायत्त निकाय, संस्कृति मंत्रालय, भारत सरकार)

प्रकाशक
गांधी स्मृति एवं दर्शन समिति
राजघाट, नयी दिल्ली-110002
फोनः 011-23392710, 23392709

कीमत – 50 रुपये

गांधी स्मृति एवं दर्शन समिति
गांधी दर्शन, राजघाट, नई दिल्ली-110 002
फोन : 011-23392710 फैक्स : 011-23392706
ई-मेल : antimjangsds@gmail.com
2010gsds@gmail.com

गांधी स्मृति एवं दर्शन समिति, राजघाट,
नई दिल्ली-110002, की ओर से निदेशक,
दीपंकर श्री ज्ञान द्वारा मुद्रित एवं प्रकाशित।

लेखकों द्वारा उनकी रचनाओं में प्रस्तुत विचार एवं दृष्टिकोण उनके अपने हैं, गांधी स्मृति एवं दर्शन समिति, राजघाट, नई दिल्ली के नहीं। समस्त मामले दिल्ली न्यायालय में ही विचाराधीन।

मुद्रक
चन्दू प्रेस, नई दिल्ली –110092

इस अंक में

अपनी बात		5
महात्मा गांधी	*—रबीन्द्रनाथ टैगोर*	11
एक अलौकिक शक्ति वाला व्यक्तित्व: टैगोर	*—महात्मा गांधी*	18
हमारे युग के दो श्रेष्ठ प्रतिनिधि	*—काका साहेब कालेलकर*	28
गुरु देव और बापू	*—विष्णु प्रभाकर*	35
शिक्षा	*—रबीन्द्रनाथ टैगोर*	41
भारत को रबीन्द्रनाथ टैगोर का संदेश	*—डॉ. सर्वपल्ली राधाकृष्णन*	50
'गुरुदेव' और 'महात्मा' की सहधर्मिता	*—श्रीभगवान सिंह*	87
रबीन्द्रनाथ और गांधी	*—मनोज कुमार*	99
भारतीय राष्ट्रवाद की प्रारम्भिक प्रवृति व रास्ते: टैगोर-गांधी	*—मिथिलेश कुमार*	112
गांधी-टैगोर और चरखा	*—संजय कृष्ण*	123
गांधी, टैगोर और नारीवाद	*—आनन्द सौरभ*	133
टैगोर और महात्मा गांधी के शिक्षा सम्बन्धी चिन्तन	*—सच्चिदानन्द सिंह*	139
रबीन्द्रनाथ टैगोर की कविताएँ		152
प्रेमपगी राधा, अनुत्तरित ईश्वर: टैगोर की भानुसिंघेर पदावली	*—ललित कुमार*	158
रबीन्द्रनाथ टैगोर का काव्य साहित्य: शब्द और संगीत का संगम	*डॉ. वेदमित्र शुक्ल*	169

अपनी बात

महात्मा गांधी और गुरुदेव रबीन्द्रनाथ टैगोर। भारत की भूमि से निकले दो ऐसे रत्न, जिनकी ज्योति से पूरा विश्व जगमगा उठा। दोनों महान। दोनों का बहुआयामी व्यक्तिव। गांधीजी एक वकील होने के साथ-साथ एक राजनीतिज्ञ, कुशल पत्रकार, वैद्य, लेखक जैसे अनेक गुणों से सुसज्जित थे, तो वहीं गुरुदेव भी बेहतरीन कवि, विचारक, शिक्षाविद्, चित्रकार थे। दोनों महापुरुषों के कार्य और कृतियाँ इतनी महान हैं कि आज भी इन्हें भारत ही नहीं अपितु विश्व भर के लोग याद करते हैं।

गांधीजी का शान्तिनिकेतन दौरा भी भारतीय इतिहास की महत्वपूर्ण घटना है। गांधीजी जब पहली बार शान्तिनिकेतन पहुँचे, तो संयोगवश गुरुदेव वहाँ पर नहीं थे। गांधीजी ने उस दौरान शान्तिनिकेतन में व्यवस्थाओं को देखा और आवश्यक सुझाव दिए। अपनी प्रथम शान्तिनिकेतन यात्रा के बारे में गांधीजी ने कहा, ''आज मुझे जो खुशी हो रही है, वह मैंने पहले कभी महसूस नहीं की। हालांकि रबीन्द्रनाथ यहाँ मौजूद नहीं हैं, फिर भी हम उनकी उपस्थिति को अपने दिल में महसूस कर रहे हैं। मुझे यह जानकर खुशी हुई कि आपने भारतीय तरीके से स्वागत की व्यवस्था की है।'' दूसरी बार गांधीजी 6 मार्च 1915 को शान्तिनिकेतन पहुँचे, जहाँ उनकी मुलाकात गुरुदेव से हुई। भारतीय इतिहास की यह एक अनूठी घटना थी, जब दो आत्मीय प्रेमी, दो कटु आलोचक एक-दूसरे के समक्ष उपस्थित थे। शान्तिनिकेतन में रहते हुए गांधीजी ने वहाँ विद्यार्थियों को अपना काम स्वयं करने की सीख दी। उनके आग्रह पर 10 मार्च 1915 को छात्र और शिक्षकों ने स्वयं शान्तिनिकेतन की साफ-सफाई की। शान्ति निकेतन में 10 मार्च के दिन को बहुत लंबे समय तक 'गांधी दिवस' के रूप में मनाया जाता रहा। बाद में खराब आर्थिक हालत से गुजर रहे शान्तिनिकेतन के लिए महात्मा गांधी ने चंदा जुटाकर आर्थिक सहायता प्रदान की। तमाम मतभेदों के बावजूद रबीन्द्रनाथ के मन में गांधीजी के प्रति अगाध श्रद्धा थी। टैगोर ने गांधी से यह अपेक्षा की थी वे शान्तिनिकेतन की व्यवस्था संभालें, इस आशय का एक पत्र उन्होंने गांधीजी को लिखा था, जिसमें उन्होंने कहा था,

प्रिय महात्माजी,

आपने आज सुबह ही हमारे कार्य के 'विश्वभारती' केन्द्र का विहंगावलोकन किया है। मैं नहीं जानता कि आपने इसकी मर्यादा का क्या अंदाज लगाया है। आप जानते हैं कि यद्यपि अपने वर्तमान रूप में यह संस्था राष्ट्रीय है, तथापि अन्त: भावना की दृष्टि से यह एक सार्वदेशिक-अन्तर्राष्ट्रीय संस्था है और अपने साधनों के अनुसार भरसक शेष जगत को भारत की संस्कृति का आतिथ्य प्रदान करते हैं।

एक बड़े गाढ़े अवसर पर आपने बिल्कुल टूटने से इसे बचाया और अपने पाँव पर खड़े होने में इसकी सहायता की; आपके इस मित्रतापूर्ण कार्य के लिए हम आपके सदा आभारी हैं।

और अब शान्तिनिकेतन से आपके विदा होने से पहले मैं आपसे जोरदार अपील करता हूँ कि यदि आप इसे एक राष्ट्रीय सम्पत्ति समझते हैं तो इस संस्था को अपने संरक्षण में लेकर इसे स्थायित्व प्रदान करें। 'विश्वभारती' उस नौका के समान है, जो मेरे जीवन के सर्वोत्तम रत्नों से भरी हुई है और मुझे आशा है कि अपनी रक्षा के लिए अपने देशवासियों से यह विशेष देख-रेख पाने का दावा कर सकती है।

प्रेमपूर्वक
रबीन्द्रनाथ टैगोर

गांधीजी और रबीन्द्रनाथ टैगोर के आत्मीय सम्बन्ध थे। महात्मा गांधी के कार्यों से प्रभावित होकर गुरुदेव ने ही सर्वप्रथम उन्हें महात्मा कहकर पुकारा था। उसके बाद गांधीजी के साथ महात्मा की उपाधि आजीवन जुड़ी रही। लेकिन वे केवल एक-दूसरे की प्रशंसा भर ही नहीं करते थे। जीवन्त और जागरूक लोगों की तरह कई मुद्दों पर वे असहमत रहे। कई बार ऐसे अवसर आए कि बापू और गुरुदेव अनेक महत्वपूर्ण मुद्दों पर एक नहीं थे। कई अवसरों पर गुरुदेव ने बापू की आलोचना की। गुरुदेव बापू के असहयोग आन्दोलन के आलोचक थे। उन्होंने असहयोग शब्द को नकारात्मक और हिंसक करार दिया। इस के अतिरिक्त टैगोर ने गांधी के विदेशी वस्त्रों के बहिष्कार को भी गलत ठहराया। उनका मानना था कि भारत की जनता गरीब है, इसलिए उसे जो भी वस्त्र मिले, वो पहन लेना चाहिए। लेकिन गांधीजी का मानना था कि विदेशी वस्त्र गुलामी का प्रतीक हैं और हमारी अर्थव्यवस्था के लिए भी ठीक नहीं हैं, इसलिए उन्होंने विदेशी वस्त्रों की होली तक जलाई। टैगोर ने गांधीजी के चरखे की अवधारणा का भी घोर विरोध किया। इसके अतिरिक्त इन दोनों के मतभेदों का एक और उदाहरण इतिहास में दिया जाता है-वह है 1934 में बिहार में आए भूकम्प का। इस भूकम्प के कारणों का जिक्र करते हुए गांधी ने कहा था कि यह भूकम्प भारत में फैले छुआछूत का परिणाम है। उनकी इस टिप्पणी को टैगोर ने अवैज्ञानिक करार दिया। इस तरह से दोनों महानुभावों के अनेक मुद्दों पर स्वर एक नहीं थे। लेकिन

बापू और गुरुदेव ने इन असहमतियों को कभी भी व्यक्तिगत या लाउड नहीं होने दिया। दोनों में खूब बहस चली, लेकिन वह बहस बड़ी शालीन और उच्च स्तर की थी। टैगोर अखबार में लेख के जरिए महात्मा गांधी की किसी नीति की आलोचना करते, तो गांधीजी भी अखबार में लेख के माध्यम से उनकी आलोचना का बिन्दुवार जवाब देते। देश के मुद्दों पर दोनों में लम्बी बहस चली, लेकिन यह बहस भारतीय इतिहास की एक अमर धरोहर है। गांधी और टैगोर के बीच चली इस बहस को 'नोबल डिबेट' कहा गया। आज की पीढ़ी के लोग सोच सकते हैं कि डिबेट और नोबल, यह कैसे हो सकता है। लेकिन यदि डिबेट करने वाले महात्मा गांधी और गुरुदेव रबीन्द्रनाथ टैगोर जैसे सुलझे व विशाल मन वाले लोग हों, तो यह सम्भव है।

अनासक्ति दर्शन का नया अंक महात्मा गांधी और गुरुदेव रबीन्द्रनाथ टैगोर पर आधारित है। इस अंक में महात्मा गांधी और गुरुदेव के आपसी सम्बन्धों का तो रेखांकन किया ही गया है, साथ में दोनों के विराट व्यक्तिव की भी व्याख्या की गई है। प्रसिद्ध विचारक डॉ. भगवान सिंह का आलेख 'गुरुदेव और महात्मा की सहधर्मिता' में दोनों महानुभावों के खट्टे मीठे सम्बन्धों का वर्णन किया गया है। डॉ भगवान सिंह लिखते हैं— असहमति के कुछेक स्थूल बिन्दुओं के आधार पर रबीन्द्र और गांधी के बीच छत्तीस का रिश्ता देखना बहुत बड़ी भ्रान्ति है— असहमति से अधिक सत्य है दोनों की समीपता, एक दूसरे की पूरकता। इस तथ्य को कुबेरनाथ राय ने अपनी पुस्तक पत्र मणिपुतुल के नाम में बहुत ही सुविचारित एवं तर्कपूर्ण ढंग से रखा है जो गौरतलब है— ''गांधीजी और रबीन्द्रनाथ दोनों का मौलिक उद्देश्य था जीवन को बढ़ती हुई यान्त्रिक जटिलता, असहजता और अऋजुता से मुक्त करके उसे पुनः सहज, सरल और निर्मल रूप में प्रतिष्ठित करना। आधुनिक शिक्षा-प्रणाली हमारे आन्तरिक जीवन को और अधिक विखंडित, असहज और जटिल करती है। यह हमें जीवन के परिवेश से बेगाना और 'कटा हुआ' बना डालती है। आधुनिक शब्दावली में इसे ही 'एलियेनेशन' कहते हैं। अंग्रेजी या अमेरिकन पैटर्न पर आधारित आधुनिक शिक्षा जो महानगरीय संस्कृति से जुड़ी है और महानगरों के विशाल मधु-छत्तों जैसे विद्यालयों में पलती है, इस आन्तरिक बिखराव और अलगाव को रोकने को कौन कहे, और अधिक बढ़ाती है। इसी से गांधीजी, रबीन्द्रनाथ दोनों ने विश्वविद्यालय मुक्त शिक्षा की कल्पना की थी। रबीन्द्रनाथ का श्रीनिकेतन और गांधीजी की बुनियादी तालीम तथा मातृभाषा पर जोर दोनों इस दिश में समान चिन्तन के फल हैं।

इसके अतिरिक्त डॉ. सर्वपल्ली राधाकृष्णन, विष्णु प्रभाकर, काका साहेब कालेलकर, प्रो मनोज कुमार, संजय कृष्ण, आनन्द सौरभ आदि के आलेख भी विशेष पठनीय है। इस अंक में महात्मा गांधी द्वारा गुरुदेव के बारे में व्यक्त किए गए विचार और गुरुदेव द्वारा महात्मा गांधी के बारे में कहे गए शब्दों का दुर्लभ संकलन भी किया गया है, जिसे पढ़कर

पाठकों को आनन्द की अनुभूति होगी। रबीन्द्रनाथ के निधन पर महात्मा गांधी ने कहा था, ''गुरुदेव की देह खाक में मिल चुकी है, लेकिन उनके अन्दर जो जोत थी, जो उजाला था, वह तो सूरज की तरह था, जो तब तक बना रहेगा जब तक धरती पर जानदार रहेंगे। गुरुदेव ने जो रोशनी फैलाई वह आत्मा के लिए थी। सूरज की रोशनी जैसे हमारे शरीर को फायदा पहुँचाती है, वैसे गुरुदेव की फैलाई रोशनी ने हमारी आत्मा को ऊपर उठाया है। वह एक कवि थे। और प्रथम श्रेणी के साहित्यिक थे। उन्होंने अपनी मातृभाषा में लिखा और सारा बंगाल उनकी कविता के झरने से काव्यरस का गहरा पान कर सका। उनकी रचनाओं के अनुवाद बहुत-सी भाषाओं में हो चुके हैं। वह अंग्रेजी के भी बहुत बड़े लेखक थे और शायद बिना अंग्रेजी जाने ही वह उस जबान के इतने बड़े लेखक बन गए थे मदरसे की पढ़ाई तो उन्होंने की थी, लेकिन युनिवर्सिटी की कोई डिग्री उन्होंने नहीं ली थी। वह तो बस गुरुदेव ही थे। हमारे एक वाइसराय ने उनको एशिया का कवि कहा था। उससे पहले किसी को ऐसी पदवीं नहीं मिली थी। वह समूची दुनिया के कवि भी थे। यही क्यों, वह तो ऋषि थे। हमारे लिए वह अपनी 'गीतांजलि' छोड़ गए हैं, जिसने उनको सारी दुनिया में मशहूर कर दिया। तुलसीदासजी हमारे लिए अपनी अमर रामायण छोड़ गए हैं। वेदव्यासजी ने महाभारत के रूप में हमारे लिए मानव-जाति का इतिहास छोड़ा है। ये सब निरे कवि नहीं थे। ये तो गुरु थे। गुरुदेव ने भी सिर्फ कवि के नाते ही नहीं, ऋषि की हैसियत से भी लिखा है। लेकिन सिर्फ लिखना ही उनकी अकेली खासियत नहीं थी। वह कलाकार थे, नृत्यकार थे और गायक थे।

रबीन्द्रनाथ मूलत: एक कवि और कलाकार थे। इसलिए उनकी कविताओं और कविताओं के बारे में डॉ. वेदमित्र शुक्ल और अनुराधा के शोधपरक लेखों को भी इस अंक में स्थान दिया गया है। टैगोर की रचनाओं को पढ़ना अपने आप में एक विशेष अनुभव है। एक बानगी देखिए-

चित्त जहाँ भय शून्य हो
शीश जहाँ उठे रहे
ज्ञान जहाँ उन्मुक्त हो
गृह-प्राचीर से जहाँ
खंडित न हो वसुन्धरा
जहाँ सत्य की गहराई से
शब्द... हृदय से झरे
जहाँ उत्थान के लिये
अनेक हस्त उठे रहे
चारों दिशा में जहाँ

सुकर्म की धारा बहे
अजस्त्र-सहस्त्र प्रवाह में
यह जीवन चरितार्थ हो,
तुच्छ आचरण जहाँ
प्रकृति ग्रहण करे नहीं
जहाँ सदा आनन्द हो
हे परमपिता, परमेश्वर
अपने निर्मम आघात से
उस स्वर्ग के प्रदेश में
मेरे भारत देश को
सत्त-स्वतन्त्र-मन्त्र से
झंकार दो... झंकार दो

इस प्रकार अनासक्ति दर्शन के इस अंक में हमने प्रयास किया है कि महात्मा गांधी और टैगोर के व्यक्तिव की विभिन्न विशेषताओं को प्रस्तुत करें, ताकि पाठकों, विशेषकर शोध विद्यार्थियों और युवाओं को इन दोनों महापुरुषों की समग्र जानकारी मिल सके।

अंक आपको कैसा लगा। कृपया जरूर बताएं।

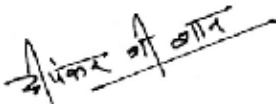

दीपंकर श्री ज्ञान

महात्मा गांधी

–रबीन्द्रनाथ टैगोर

भारतवर्ष की अपनी एक सम्पूर्ण भौगोलिक प्रतिभा है। पूर्व प्रान्त से लेकर पश्चिम-प्रान्त तक, उत्तर में हिमालय से लेकर दक्षिण में कन्याकुमारी तक भारत की जो एक विशिष्ट पूर्णता है, उसका चित्र हृदय में ग्रहण करने की इच्छा देश में प्राचीनकाल से रही है। विभिन्न युगों और स्थानों में जो विछिन्न है, उसे एक करके देखने का प्रयत्न 'महाभारत' में स्पष्ट और जागृत रूपों में दिखाई पड़ता है।

भारत के भौगोलिक स्वरूप को हृदय में उपलब्ध करने का किसी समय एक अच्छा साधन था। यह साधन था तीर्थयात्राओं की परम्परा। देश के पूर्वी अंचल से लेकर पश्चिमी किनारे तक, और हिमालय से लेकर समुद्र तक, पवित्र पीठ स्थान थे। यहाँ तीर्थ स्थापित हुए जिनके द्वारा शक्ति के ऐक्यजाल में समस्त भारतवर्ष को लाने का एक सहज उपाय निर्मित हुआ।

भारतवर्ष बहुत बड़ा देश है। इस बात को सम्पूर्ण रूप से समझना प्राचीनकाल में सम्भव नहीं था। आज हम सर्वे रिपोर्टों, मानचित्रों और भौगोलिक विवरणों द्वारा भारत के वास्तविक विस्तार को अच्छी तरह देख सकते हैं। प्राचीनकाल में ये साधन नहीं थे, और एक तरह से उनका न होना अच्छा ही था। जो चीज बहुत आसानी से मिलती है उसका मन पर गहरा प्रभाव नहीं पड़ता। तरह-तरह के कष्ट सहकर भारत परिक्रमा करते हुए जो अभिज्ञता प्राप्त की जाती थी वह गम्भीर होती थी और मन से उनका दूर होना कठिन था।

प्राचीन काल के इस समन्वय तत्व का उज्ज्वल स्वरूप 'गीता' में मिलता है। कुरूक्षेत्र की भूमि में यह जो अचानक दार्शनिक चर्चा की जाती है वह काव्य की दृष्टि से असंगत सी लगती है। यह भी कहा जा सकता है कि मूल महाभारत में यह विवेचन नहीं था। जिन्होंने बाद में इसकी रचना की वे जानते थे कि काव्य परिधि के बीच-भारत की चित्त भूमि में-इस तात्विक चर्चा का प्रवेश आवश्यक था। उस समय भारत को अन्दर-बाहर से पूरी तरह उपलब्ध करने का प्रयास धार्मिक अनुष्ठान द्वारा ही सम्भव था। महाभारत पाठ हमारे देश में धार्मिक कर्मों में गिना जाता था-केवल तात्त्विक दृष्टि से नहीं, वरन् देश की सम्पूर्ण

उपलब्धि करने की दृष्टि से भी और तीर्थयात्री भी दूर-दूर तक घूमते हुए, देश के विभिन्न भागों को स्पर्श करते-करते, भारत के ऐक्यरूप को आन्तरिक भाव से ग्रहण करते थे।

यह तो हुई प्राचीनकाल की बात। लेकिन अब युग बदल गया है। आज देश के लोग अपने अपने कोनों में बैठकर प्रादेशिक संकीर्णता में आबद्ध हो गए हैं। संस्कार और लोकाचार के जाल में हम जकड़ गए हैं। लेकिन 'महाभारत' के विस्तृत क्षेत्र में हम मुक्ति की वायु का अनुभव करते हैं। इस महाकाव्य के विराट प्रांगण में मानव मन की तरह-तरह से परीक्षाएं हुई हैं। जिसे हम प्राय: निन्दनीय कहते हैं, उसे भी वहाँ स्थान मिला है। यदि हमारा मन इस बात के लिए प्रस्तुत हो, तो हम अपराध और दोष का अतिक्रमण करते हुए 'महाभारत' की वाणी को ग्रहण कर सकते हैं। महाभारत में एक उदात्त शिक्षा है। वह शिक्षा निषेधात्मक नहीं, सकारात्मक है, उसमें हां का स्वर सुनाई पड़ता है। दोष और त्रुटियों तो उन बड़े-बड़े वीर पुरूषों में भी रही है, जो अपने माहातम्य से उन्नतमस्तक है। उन त्रुटियों को आत्मसात् करके ही वे बड़े हुए हैं। मनुष्य का यथार्थ रूप से मूल्यांकन करने की यही महान शिक्षा हमें 'महाभारत' में मिलती है, पाश्चात्य संस्कृति के संपर्क में आने से कुछ और चिन्तनीय विषय हमारे सामने आए हैं, जो पहले नहीं थे। प्राचीन भारत में जो लोग स्वभाव या कार्य की दृष्टि से पृथक थे उन्हें अलग-अलग श्रेणियों में विभाजित किया गया था। लेकिन इस तरह खंडित होने पर भी लोगों में ऐक्य साधना का प्रयास था। सहसा पश्चिम के दरवाजे से शत्रु आ पहुँचा। एक दिन आर्यों ने भी इसी पथ से आकर पाँच नदियों के प्रदेश में उपनिवेश स्थापित किए थे, और फिर विंध्याचल पार करके धीरे-धीरे वे सारे भारत में फैल गए थे। उस समय भारत, गांधार और समीपवर्ती प्रदेशों के साथ, एक समग्र संस्कृति से परिवेष्टित था, इसलिए बाहर के आघात से उसकी क्षति नहीं हुई। उसके बाद एक दिन फिर हमारे ऊपर बाहर से आघात हुआ। लेकिन यह आघात विदेशियों द्वारा हुआ, जिनकी संस्कृति बिल्कुल भिन्न थी। जब वे आए तब हमने देखा कि हम एक साथ रहने पर भी एक नहीं हुए थे। इसलिए सारा भारतवर्ष विदेशी आक्रमण की बाढ़ में निमग्न हुआ। तब से हमारे दिन दु:ख और अपमान में कटे हैं।

विदेशी आक्रमण का अवसर पाकर कुछ लोग तो अलग-अलग दल बना कर देश में अपना प्रभाव बढ़ाने का प्रयत्न करने लगे, और अन्य लोग अपने निजी स्वातन्त्रय की रक्षा करने के लिए अलग-अलग स्थानों पर विदेशियों का विरोध करने लगे। इनमें से किसी को भी सफलता नहीं मिली। राजपूताना, महाराष्ट्र और बंगाल में आपसी लड़ाई बहुत दिनों तक चलती रही। जितना बड़ा हमारा देश था, उस परिमाण में हमारी एकता नहीं थी। दुर्भाग्य झेलकर हमने सबक सीखे, लेकिन सदियों बाद। हमारी आपसी फूट से ही विदेशी आक्रमणकारियों के लिए मार्ग प्रशस्त हुआ। पहले तो हमारे निकटवर्ती शत्रुओं ने हमला किया, और फिर समुद्र पार से विदेशी शत्रु अपनी वाणिज्य नौका के साथ हमारे ऊपर टूट

पड़े। पुर्तगाली आए, डच आए, फ्रांसिसी और अंग्रेज आए। सबने जोर से धक्के लगाए और सबने देखा कि उनके रास्ते में कोई दुर्जेय बाधा नहीं थी। हम अपनी समस्त शक्ति-सम्पदा विदेशियों को देने लगे, हमारी विद्या-बुद्धि क्षीण हुई, हमारा चित्त दुर्बल और खोखला हो गया। बाहर की दीनता अपने साथ आन्तरिक दीनता भी लाती है।

ऐसे दुर्दिन में हमारे साधकों के मन में जिस विचार का उदय हुआ, वह यह था कि परमार्थ का लक्ष्य सामने रखकर भारत को स्वातन्त्र्य की ओर ले जाने की आध्यात्मिक चेष्टा करना आवश्यक है। तब से हमारा मन पूर्ण रूप से पारमार्थिक पुण्य की ओर झुका है। हमारी जो पार्थिव सम्पदा है, उसका प्रयोग दैन्य और अज्ञान के दूर करने में नहीं होता। पारमार्थिक वैभव के लोभ से हम अपनी पार्थिव सम्पदा खर्च करते हैं, और वह जा पहुँचती है, महन्तों और पंडों के गर्व से फूले हुए पेट में। इससे भारत की क्षति हो सकती है, उसका लाभ नहीं हो सकता। भारतवर्ष के विशाल जन-समाज में एक और भी श्रेणी के लोग हैं। ये लोग जप-तप और ध्यान करने के लिए मनुष्य मात्र का परित्याग करते हैं और संसार को दैन्य तथा दुख हवाले करके चल देते हैं। संसार के प्रति उदासीन मोक्षकामी हमारे देश में अंसख्य हैं, और उनके लिए जो लोग अन्न जुटाते हैं, उन्हें वे मोह-ग्रस्त तथा संसारासक्त कहते हैं। एक बार किसी गांव में ऐसे ही एक सन्यासी के साथ मेरी भेंट हुई थी। मैंने उनसे पूछा था,'' गांव में जो दुराचारी, दुखी और कष्ट-ग्रस्त लोग हैं, उनके लिए आप कुछ क्यों नहीं करते?'' मेरा प्रश्न सुनकर सन्यासी महोदय विस्मित भी हुए और अप्रसन्न भी। उन्होंने कहा, क्या जो लोग सांसारिक मोह में जकड़े हुए हैं, उनके विषय में मुझे सोचना होगा? मैं साधक हूं! विशुद्ध आनन्द प्राप्त करने के लिए जिस संसार को छोड़ आया हूं फिर उसी में आकर आबद्ध हो जाऊं! ऐसी बातें करने वाले संसार के प्रति उदासीन लोगों को बुलाकर यह पूछने की इच्छा होती है कि उनके शरीर को चिकना बनाए रखने के लिए सामग्री कौन जुटाता है? ये सन्यासी जिन्हें पापी और हेय समझकर ठुकराते हैं वे संसारी लोग ही उनके लिए अन्न का प्रबन्ध करते हैं। परलोक की दृष्टि जमाकर भी हम अपनी शक्ति का जो अपव्यय करते हैं, उसकी कोई सीमा नहीं है। सदियों से भारत ने इस दुर्बलता को स्थान दिया है और विधाता ने हमें इसके लिए दण्ड भी दिया है। ईश्वर ने हमें आदेश दिया है कि हम सेवा और त्याग द्वारा संसार के लिए उपयुक्त सिद्ध हों। इस आदेश की हमने उपेक्षा की है, इसलिए हमें दण्ड भोगना ही होगा।

पिछले दिनों योरोप में स्वातन्त्रय प्रतिष्ठा के लिए प्रयत्न किए गए हैं। इटली किसी दिन विदेशियों के पंजे में था और अपमानित होकर जीवन व्यतीत करता था। लेकिन मेजिनी-गैरीबाल्डी जैसे वीर और त्यागी इटली में हुए। उन्होंने पराधीनता के जाल से मुक्ति दिलाकर अपने देश को स्वातंत्र्य दान दिया। अमेरिका के युक्त-राष्ट्र में लोगों ने कितने दुख सहे, उन्हें कितना प्रयत्न और संघर्ष करना पड़ा, यह भी हम इतिहास में देखते हैं। मनुष्य को

मानवोचित अधिकार दिलाने के लिए पाश्चात्य देशों में कितने ही लोगों ने अपना बलिदान दिया है। आदमी-आदमी में भेद निर्माण करके एक-दूसरे का जो अपमान किया जाता है उसके विरुद्ध पश्चिम में आज भी विद्रोह चल रहा है। उन दोनों में जनसाधारण को मानवीय गौरव का अधिकारी माना गया है, इसलिए राष्ट्रीय प्रशासन के सभी अधिकार सर्वसाधारण तक पहुंच गए हैं। जहां विधान के सामने धनी और निर्धन में, या ब्राह्मण और शूद्र में कोई भेद नहीं है। पाश्चात्य जगत के इतिहास से हमें यह शिक्षा मिलती है कि एकताबद्ध होकर स्वतंत्रा को कैसे प्रतिष्ठित किया जा सकता है। आज सभी भारतवासी यह चाहते हैं कि अपने देश को नियन्त्रित करने का अधिकार उन्हें मिले। यह इच्छा हमने पश्चिम से ही प्राप्त की है। इतने दिनों तक हम अपने गांव और पड़ोसियों को छोटे-छोटे खंडों में विभाजित करते आए हैं। अत्यन्त शूद्र परिधि के भीतर हम सोचते और काम करते रहे हैं। गांव में तालाब और मन्दिर बनवाकर ही हमने अपना जीवन सार्थक समझा है, और गांव ही हमारे लिए जन्मभूमि या मातृभूमि रही है। भारत को मातृभूमि के रूप में स्वीकार करने का हमें अवकाश ही नहीं मिला। प्रादेशिकता के जाल में फंसकर और दुर्बलता से पराजित होकर जब हमारा पतन हुआ था, उस समय रानाडे, गोखले, सुरेंद्रनाथ जैसे जनसाधारण को गौरव प्रदान करने के लिए महान उद्देश्यों को लेकर आए।

उनके द्वारा आरम्भ की गई साधना को आज एक महापुरुष ने अपनी प्रबल शक्ति से, बड़ी तेजी के साथ, सफलता के मार्ग पर बढ़ाया है। उसी महापुरुष की-अर्थात महात्मा गांधी की-बातों का स्मरण करने के लिए हम आज यहाँ एकत्रित हुए हैं।

बहुत से लोग पूछ सकते हैं, क्या यही पहले-पहल आए हैं? इसके पहले भी क्या कांग्रेस के अन्दर अनेक लोगों ने काम नहीं किया? काम तो बहुत से लोगों ने किया, लेकिन उनके नाम गिनाते ही हम देख पाते हैं कि उनका साहस बहुत सीमित था और उनकी आवाज धीमी थी।

इसके पहले कांग्रेस के लोग या तो शासकों के सामने आवेदन-पत्रों की डाली ले जाते थे, या अपनी आंखें लाल करके कृत्रिम रूप से अपना क्रोध व्यक्त करते थे। उनका विचार था कि कभी कठोर और कभी कोमल वाक्य बाणों का प्रयोग करके ही वे मेजिनी-गैरीबाल्डी के समगोत्रीय बन सकेंगे। उस क्षीण अवास्तविक वीरता में ऐसा कुछ भी नहीं था जिस पर आज हम गर्व कर सकें। आज जो हमारे सामने आए हैं वे राष्ट्रीय स्वार्थ के कलंक से मुक्त हैं। राजनीति में अनेक पाप और दोष होते हैं, लेकिन उनमें से सबसे बड़ा दोष है स्वार्थपरता। हो सकता है कि राष्ट्रीय स्वार्थ व्यक्तिगत स्वार्थ से बहुत बड़ा हो, फिर भी है तो वह भी स्वार्थ। इसलिए वह भी कीचड़ से अलिप्त नहीं है। 'पॉलिटिशियन' लोगों की एक अलग जाति होती है। उनका आदर्श मानव के महान आदर्श से मेल नहीं खाता। वे बड़े से बड़ा झूठ बोल सकते हैं। वे इतने निष्ठुर होते हैं कि अपने देश को स्वातंत्र्य दिलाने के

बहाने से दूसरे देशों पर अधिकार जमाने का लोभ उनसे छोड़ा नहीं जाता। पाश्चात्य देशों में हम देखते हैं कि जो लोग देश के लिए प्राण तक दे सकते हैं, वही लोग देश के नाम पर घोर अन्याय को प्रश्रय भी दे सकते हैं।

पाश्चात्य देशों ने एक दिन जिस मूसल का निर्माण किया था वही आज योरोप का सिर कुचलने के लिए प्रस्तुत है। आज दशा यह है कि हमें संदेह होता है, योरोपीय सभ्यता कल तक टिकेगी या नहीं। जिसे वे लोग पेट्रिऑटिज्म कहते हैं। उसी पेट्रिऑटिज्म से उनका विनाश होगा। लेकिन जब उनकी अन्तिम घड़ी आयेगी, तब वे हमारी तरह निर्जीव होकर नहीं मरेंगे। भयानक आग भड़काकर भीषण प्रलय में प्राण त्यागेंगे।

हमारे बीच भी असत्य का पदार्पण हुआ है। पॉलिटिशियन लोगों ने गुटबंदी का विष फैलाया है। इस पॉलिटिक्स से निकला हुआ दलबन्दी का विष छात्रों में भी प्रवेश कर चुका है। पॉलिटिशियन लोग अत्यंत व्यवहारिक होते हैं। वे सोचते हैं कि अपना कार्य संपन्न करने के लिए मिथ्या का अवलंबन करना जरूरी है। किंतु विधाता का विधान ऐसा है कि इस छल-चातुर्य का परिणाम एक दिन उन्हें भोगना पड़ेगा। पॉलिटिशियन लोगों की चतुराई के लिए हम उनकी प्रशंसा कर सकते हैं, लेकिन भक्ति नहीं कर सकते। भक्ति तो हम कर सकते हैं महात्मा गांधी की, जिनकी साधना सत्य की साधना है। मिथ्या के साथ समझौता करके उन्होंने सत्या की सार्वभौम नीति को अस्वीकार नहीं किया। भारत की युग साधना के लिए परम सौभाग्य का विषय है। महात्मा गांधी ही एक ऐसे पुरुष हैं, जिन्होंने प्रत्येक अवस्था में सत्य को माना है, चाहे वह सुविधाजनक हो या न हो। उनका जीवन हमारे लिए एक महान उदाहरण है। दुनिया में स्वाधीनता-लाभ का इतिहास रक्त की धारा से पंकिल है, अपहरण और दस्यु-वृत्ति से कलंकित है। लेकिन महात्मा गांधी ने यह दिखाया है कि हत्याकांड को आश्रय दिए बगैर भी स्वाधीनता प्राप्त की जा सकती है। देश के नाम पर लोग लूट-मार कर सकते हैं, विज्ञान डाका डाल सकता है। लेकिन देश के नाम पर किए गए कामों पर आज लोगों को जो गर्व है वह टिक नहीं सकता। हमारे बीच ऐसे लोग बहुत कम हैं, जो हिंसा को अपने मन से दूर हटाकर किसी बात को देख सकें। क्या वास्तव में हमारा यह विश्वास है कि बिना हिंसा-प्रवृत्ति को स्वीकार किए भी हमारी विजय हो सकती है।

महात्मा गांधी यदि केवल एक वीर योद्धा होते तो हम उन्हें इस तरह स्मरण न करते जैसे आज कर रहे हैं। रणभूमि में वीरता दिखाने वाले बड़े-बड़े सेनापति दुनिया में बहुत हुए हैं। मनुष्य का युद्ध धर्मयुद्ध है, नैतिक युद्ध है। धर्मयुद्ध में भी निष्ठुरता सम्भव है, जैसा कि हम गीता और महाभारत में देखते हैं। उसमें बाहुबल के लिए स्थान है या नहीं, इस विषय पर मैं शास्त्रार्थ नहीं करूंगा। लेकिन वह अनुशासन बहुत बड़ी चीज है, जिससे प्रेरित होकर हम कह सकें: 'चाहे जान चली जाय हम आघात नहीं करेंगे और इसी तरह विजयी होंगे।' यह गम्भीर वाणी है। इसमें चातुर्य नहीं है, कार्यसिद्धि के लिए व्यवहारिक परामर्श नहीं है।

धर्मयुद्ध बाहर से जीतने के लिए नहीं होता, हारकर भी विजय प्राप्त करने के लिए होता है। अधर्म-युद्ध में जो मरता है, उसका वास्तविक अन्त होता है, लेकिन धर्मयुद्ध में मरने के बाद भी कुछ शेष रहता है-यहां पराजय के अन्दर विजय और मृत्यु के अन्दर अमरत्व होता है। इस सत्य को जिन्होंने अपने जीवन में उपलब्ध करके स्वीकार किया है, उनका उपदेश हमें सुनना ही होगा।

इसकी जड़ में एक शिक्षा धारा है। स्वाधीनता का कलुषित रूप और स्वादेशिकता का विषैला पक्ष हमने योरोप में देखा है। यह मानना पड़ेगा कि इससे वहाँ के लोगों को काफी लाभ हुआ और ऐश्वर्य मिला। पाश्चात्य देशों में ईसाई-धर्म को केवल मौखिक भाव से ग्रहण किया गया। उस धर्म में मानव प्रेम का एक महान उदाहरण है। उसके अनुसार भगवान ने मनुष्य होकर, मानवीय देह का दु:ख पाप अपनाकर, मनुष्य की रक्षा की-और वह भी इहलोक में, परलोक में नहीं। जो अत्यन्त दीन है, उन्हें वस्त्र देना चाहिए, जो क्षुधित हैं, उनको अन्न देना चाहिए-यह बात ईसाई धर्म में जिस स्पष्टता से कही गयी है, वैसी और किसी धर्म में नहीं कही गयी।

महात्माजी ऐसे ही एक ईसाई साधक से मिले थे। इस साधक की नित्य यही चेष्टा थी कि मानव को न्याय-अधिकार प्राप्त करने में बाधाओं से मुक्ति मिले। सौभाग्य क्रम से इसी योरोपीय ऋषि-टॉल्सटाय-से महात्मा गांधी ने ईसाई धर्म की अहिंसा-वाणी को यथार्थ रूप में उपलब्ध किया। और यह भी सौभाग्य का विषय है कि यह एक ऐसे मनुष्य की वाणी थी, जिसने संसार की विविध अभिज्ञताओं के फलस्वरूप अहिंसा-नीति के तत्व को अपने चरित्र में ढाला था। मिशनरी अथवा व्यवसायी प्रचारकों से उन्हें मानव-प्रेम के सम्बन्ध में रूढ़िगत उपदेश नहीं सुनने पड़े थे। ईसा की वाणी का यह महान दान भारत के लिए आवश्यक था। मध्य युग में मुसलमानों से भी हमने इसी तरह का दान प्राप्त किया था। दादू, कबीर, रज्जब और अन्य साधु-सन्तों ने इस सत्य का प्रचार किया था कि जो निर्मल और मुक्त है, जो आत्मा की श्रेष्ठ सामग्री है, वह समस्त मानव-जाति की सम्पदा है: वह ऐसी चीज नहीं है, जिसे मन्दिर के रुद्र द्वार के पीछे किसी विशेष अधिकारी के लिए सुरक्षित रखा जाय। युग-युग में यही होता आया है। महापुरुष समस्त पृथ्वी के दान को अपने माहात्मय द्वारा ग्रहण करते हैं, और ग्रहण करने की क्रिया में ही उस दान को सत्य में परिणत करते हैं। अपने माहात्म्य से ही राजा पृथु ने पृथ्वी का दोहन किया था, रत्न-संचय करने के लिए। श्रेष्ठ महापुरुष वही होते हैं, जो सारे धर्म, इतिहास और नीति से पृथ्वी के श्रेष्ठ दान को ग्रहण करते हैं।

ईसा का श्रेष्ठ संदेश है कि जो विनम्र है, उसी की विजय होती है। लेकिन ईसाई देश कहते हैं, कि निष्ठुर धृष्टता द्वारा विजय प्राप्त होती है। इन दोनों प्रवृत्तियों में कौन-सी सफल होगी, यह कहना कठिन है। लेकिन धृष्टता का परिणाम हम योरोप में देख सकते हैं, जहाँ

आज जीवन रोग-ग्रस्त हो गया है। महात्माजी ने नम्र अहिंसा नीति ग्रहण की है, और चारों ओर उसकी विजय हो रही है। उन्होंने अपने समस्त जीवन द्वारा जिस नीति को प्रमाणित किया है, उसे हमें स्वीकार करना ही होगा, चाहे हम उस पर पूरी तरह न चल सकें। हमारे अन्त: करण और आचरण में रिपु और पाप का संग्राम चल रहा है, फिर भी हमें सत्यव्रत महात्मा से पुण्य तपस्या की दीक्षा लेनी होगी। आज का दिन स्मरणीय है, क्योंकि राष्ट्रीय मुक्ति की दीक्षा और सत्य की दीक्षा जनसाधारण के हृदय में एक हो गयी है।

एक अलौकिक शक्ति वाला व्यक्तित्वः टैगोर

–महात्मा गांधी

लॉर्ड हार्डिंग्ज ने रबीन्द्रनाथ टैगोर को एशिया के महाकवि की पदवी दी थी; पर अब रबीन्द्र बाबू न सिर्फ एशिया बल्कि संसार भर के महाकवि गिने जा रहे हैं। यदि अभी नहीं तो कम-से-कम बहुत जल्द उनका नाम संसार भर के महाकवियों में गिना जाने लगेगा। दिन-पर-दिन उनकी प्रतिष्ठा और प्रभाव बढ़ रहा है, जिससे उनकी जिम्मेदारी भी दिन-पर-दिन बढ़ती जा रही है। उनके हाथ से भारतवर्ष की सबसे बड़ी सेवा यह हुई है कि उन्होंने अपनी कविता द्वारा भारतवर्ष का सन्देश संसार को सुनाया है। इसी से रबीन्द्र बाबू को सच्चे हृदय से इस बात की चिन्ता है कि भारतवासी भारत-माता के नाम से कोई झूठा या सारहीन सन्देशा संसार को न सुनावें। हमारे देश का नाम न डूबने पावे, इस बात की चिन्ता करना रबीन्द्र बाबू के लिए स्वाभाविक ही है। उन्होंने लिखा है कि मैंने इस आन्दोलन की तान के साथ अपनी तान मिलाने की भरसक कोशिश की; पर मुझे निराश होना पड़ा। उन्होंने यह भी लिखा है कि असहयोग-आन्दोलन के शोरगुल में मुझे अपनी हृदय-वीणा के लिए कोई उचित स्वर नहीं मिल सका। तीन जोरदार पत्रों में उन्होंने इस आन्दोलन के सम्बन्ध में अपना सन्देह प्रकट किया है। अन्त में वह इस नतीजे पर पहुँचे हैं कि असहयोग का आन्दोलन ऐसा गम्भीर और गौरवपूर्ण नहीं है कि वह भारतवर्ष के योग्य हो सके, जिसे वह अपनी कल्पना का आदर्श समझे हुए हैं। उनका मत है कि असहयोग का सिद्धान्त खण्डन और निराशा का सिद्धान्त है। रबीन्द्र बाबू की समझ में वह सिद्धान्त भेदभाव और अनुदारता से भरा हुआ है।

रबीन्द्र बाबू के हृदय में भारतवर्ष की प्रतिष्ठा के लिए जो चिन्ता है उसके लिए हर हिन्दुस्तानी को अभिमान होना चाहिए। यह बहुत अच्छी बात हुई है कि उन्होंने अपना सन्देह ऐसी सुन्दर और सरल भाषा में प्रकट कर दिया।

मैं रबीन्द्र बाबू के सन्देहों का उत्तर बड़ी नम्रता के साथ देने का प्रयत्न करूँगा। मैं रबीन्द्र बाबू या उन लोगों को, जिनके हृदय पर रबीन्द्र बाबू की कवितापूर्ण भाषा का प्रभाव पड़ रहा है, शायद विश्वास न दिला सकूँ, पर मैं उनको और कुल भारतवर्ष को यह विश्वास दिलाना

चाहता हूँ कि असहयोग के उद्देश्य के सम्बन्ध में उनका जो कुछ सन्देह है वह बिल्कुल निर्मूल है। मैं उन्हें यह विश्वास दिलाना चाहता हूँ कि यदि उनके देश ने असहयोग के सिद्धान्त को स्वीकार किया है तो इसमें उनके शरमाने की कोई बात नहीं है। अगर यह सिद्धान्त अमली तौर पर काम में आने में असफल हो तो सिद्धान्त का दोष न कहा जायगा, क्योंकि अगर सच्चाई को अमली तौर पर काम में लाने वाले आदमी सफल होते हुए न दिखाई पड़े तो इसमें सच्चाई का कोई दोष नहीं है। हाँ, यह संभव है कि असहयोग-आन्दोलन शायद अपने समय के पहले ही शुरू हो गया हो। तब हिन्दुस्तान और संसार दोनों को उस उचित समय की प्रतीक्षा करनी चाहिए। पर हिन्दुस्तान के सामने तलवार और असहयोग इन दोनों को छोड़कर और कोई उपाय नहीं था। अपनी सहायता के लिए कोई उपाय चुनना है तो वह इन्हीं दोनों में से चुन सकता है।

रबीन्द्र बाबू को इस बात से भी न डरना चाहिए कि असहयोग-आन्दोलन भारतवर्ष तथा यूरोप के बीच में एक बड़ी भारी दीवार खड़ी करना चाहता है। इसके विरुद्ध असहयोग-आन्दोलन की मंशा यह है कि आपस के आदर और विश्वास की बुनियाद पर बिना किसी दबाव के सच्चे तथा प्रतिष्ठित सहयोग के लिए पक्का रास्ता तैयार किया जाय। यह आन्दोलन इसलिए चलाया गया है कि जिसमें हमसे कोई जबरदस्ती सहयोग न करा सके। हमारे विरुद्ध दल बाँधकर हमें कोई नुकसान न पहुँचा सके और सभ्यता के नाम से तथा तलवार के जोर से आजकल जो तरीके हमारा खून चूसने के लिए काम में लाये जा रहे हैं वे न लाये जा सकें। असहयोग-आन्दोलन इस बात के विरोध में किया गया है कि हमारी इच्छा बिना और हमारे जाने बिना हमसे बुराई में सहयोग कराया जा रहा है।

रबीन्द्र बाबू को अधिकतर चिन्ता विद्यार्थियों के बारे में है। उनका मत यह है कि जब तक दूसरे स्कूल न खुल जायँ तब तक उनसे सरकारी स्कूल छोड़ने को न कहा जाय। इस बात में मेरा उनसे पूरा मतभेद है। मैंने कोरी साहित्य की शिक्षा को कभी परम आवश्यक नहीं समझा है। अनुभव से मुझे यह मालूम हो गया है कि अकेली साहित्य की शिक्षा से मनुष्य के चरित्र की उन्नति रत्ती भर भी नहीं होती। मेरा यह भी विश्वास है कि चरित्र-निर्माण से साहित्य की शिक्षा का कोई संबन्ध नहीं है। मेरा यह पक्का विश्वास है कि सरकारी स्कूलों ने हमें बुजदिल, लाचार और अविश्वासी बना दिया है। उनके सबब से हमारे हृदय में असन्तोष तो उत्पन्न हो गया है; पर उस असन्तोष को दूर करने के लिए कोई दवा हमें नहीं बतलाई गई है, जिससे हमारे हृदयों में निराशा ने घर कर लिया है। सरकारी स्कूलों का उद्देश्य हमें क्लर्क और दुभाषिया बनाना था। वह पूरा हो गया है। किसी सरकार की धाक तभी कायम रहती है जब प्रजा स्वयं अपनी इच्छा से उस सरकार से सहयोग करती है। अगर सरकार हमें गुलाम बनाये हुए है और ऐसी सरकार के साथ सहयोग करना और उसे सहायता देना अनुचित है तो हमारे लिए यह जरूरी है कि हम उन संस्थाओं से अपना

नाता तोड़ दें जिनमें हम स्वयं अपनी इच्छा से अब तक सहयोग दे रहे हैं। जाति की आशा उसके नौजवानों पर निर्भर होती है। मेरा यह मत है कि अगर हमें इस बात का पता लग जाय कि यह सरकार पूरी तरह से मरी हुई है तो अपने लड़कों को उसके स्कूलों और कॉलेजों में भेजना हमारे लिए पाप का काम होगा।

मैंने जो प्रस्ताव राष्ट्र के सामने रखा है उसका खण्डन इस बात से नहीं हो सकता कि अधिकतर विद्यार्थी पहली बार का जोश ठण्डा होते ही अपने स्कूलों में फिर से वापस चले गये। उनका अपनी बातों से टल जाना इस बात का सबूत नहीं है कि हमारा यह प्रस्ताव गलत है; बल्कि इस बात का सबूत है कि हम किस कदर नीचे गिर गये हैं। अनुभव से यह पता लगा है कि राष्ट्रीय स्कूलों के खुलने से बहुत ज्यादा विद्यार्थी उनमें भरती नहीं हुए। जो विद्यार्थी सच्चे और अपने विश्वास के पक्के थे वह बिना कोई राष्ट्रीय स्कूल खुले हुए भी सरकारी स्कूलों से बाहर निकल गये। मेरा पक्का निश्चय है कि जिन विद्यार्थियों ने पहले-पहल स्कूल-कॉलेज छोड़ा है उन्होंने देश की बहुत बड़ी सेवा की है।

वास्तव में रबीन्द्र बाबू जड़ से ही असहयोग सिद्धान्त के विरुद्ध है। ऐसी हालत में अगर उन्होंने स्कूल और कॉलेजों से विद्यार्थियों के निकलने का विरोध किया तो कोई बड़ी बात नहीं है। उनका ऐसा करना तो स्वाभाविक ही था। रबीन्द्र बाबू के हृदय में ऐसी हर एक वस्तु से धक्का पहुँचता है जिसका उद्देश्य खण्डन करना है। उनकी आत्मा धर्म की उन आज्ञाओं के विरोध में उठ खड़ी होती है जो हमें किसी वस्तु का खण्डन करने के लिए कहती है। मैं उनका मत उन्हीं के शब्दों में आपके सामने रख देता हूँ– 'एक महाशय ने इस वर्तमान आन्दोलन के पक्ष में मुझसे अक्सर यह कहा है कि प्रारम्भ में किसी उद्देश्य को स्वीकार करने की अपेक्षा उसे अस्वीकार करने का भाव प्रबल रहता है। यद्यपि मैं यह मानता हूँ कि वास्तव में बात ऐसी ही है, पर मैं इस बात को सच्ची नहीं मान सकता। भारतवर्ष में ब्रह्मविद्या का उद्देश्य मुक्ति या मोक्ष है; पर बौद्धधर्म का उद्देश्य निर्वाण प्राप्त करना है। मुक्ति हमारा ध्यान सत्य के मण्डनात्मक पक्ष की ओर और निर्वाण उसके खण्डनात्मक पक्ष की ओर खींचता है। इसीलिए बुद्ध भगवान ने इस बात पर जोर दिया कि संसार दु:खमय है तथा उससे छुटकारा पाना हमारा धर्म है और ब्रह्मविद्या ने इस बात पर जोर दिया कि संसार आनन्दमय है और उस आनन्द को प्राप्त करना हमारा परम कर्तव्य है।' इन वाक्यों और इस तरह के दूसरे वाक्यों से पाठकगण रबीन्द्र बाबू की मानसिक वृत्ति का पता लगा सकते हैं। मेरी नम्र राय में किसी बात का खण्डन या अस्वीकार करना वैसा ही आदर्श है जैसा किसी बात का स्वीकार करना या खण्डन करना। असत्य का अस्वीकार करना उतना ही जरूरी है जितना सत्य का स्वीकार करना। सब धर्म हमें यही शिक्षा देते हैं कि दो विरोधी शक्तियाँ हम पर अपना प्रभाव डाल रही हैं, और मनुष्य-जीवन का प्रयत्न इसी बात में रहता है कि वह लगातार स्वीकार करने योग्य वस्तु को स्वीकार और अस्वीकार करने योग्य को

अस्वीकार करता रहे। बुराई के साथ असहयोग करना हमारा उतना ही कर्तव्य है जितना भलाई के साथ सहयोग करना। मैं साहस से कह सकता हूँ कि रबीन्द्र बाबू ने निर्वाण को केवल एक खण्डनात्मक या अभाव-सूचक दिशा बतलाकर बौद्ध धर्म के साथ बड़ा अन्याय किया है। हाँ, मैं मानता हूँ कि उन्होंने यह अन्याय जान-बूझकर नहीं किया। मैं साहस के साथ यह भी कह सकता हूँ कि जिस तरह निर्वाण एक अभावात्मक दशा है, उसी तरह से मुक्ति भी अभाव को सूचित करने वाली एक अवस्था है। शरीर के बन्धन से छुटकारा पाना या बन्धन का बिल्कुल नाश हो जाना, आनन्द प्राप्त करना है। मैं अपनी दलील के इस हिस्से को समाप्त करते हुए इस बात की ओर ध्यान खींचना चाहता हूँ कि उपनिषदों के रचयिताओं ने ब्रह्म का सबसे अच्छा वर्णन 'नेति' किया है।

इसलिए मेरी समझ में रबीन्द्र बाबू को असहयोग-आन्दोलन के अभावात्मक या खण्डनात्मक रूप पर चौंकने की कोई जरूरत न थी। हम लोगों ने 'नहीं' कहने की शक्ति बिल्कुल गँवा दी है। सरकार के किसी काम में 'नहीं' कहना पाप और अराजकता गिना जाने लगा था। जिस तरह से कि बोने से पहले निराई करना बहुत जरूरी है उसी तरह से सहयोग करने के पहले जान-बूझकर पक्के इरादे के साथ असहयोग करना हम लोगों ने जरूरी समझा है। खेती के लिए जितनी बुआई जरूरी है, उतनी ही निराई जरूरी है। वास्तव में उस समय भी हर रोज निराई जरूरी है जबकि फसलें उगती रहती हैं। इस असहयोग-आन्दोलन के रूप में जाति की ओर से सरकार को इस बात का निमन्त्रण दिया है कि जिस तरह से हर एक जाति का हक और हर एक अच्छी सरकार का धर्म है, उसी तरह से इस सरकार को भी चाहिए कि वह जाति के साथ सहयोग करे। असहयोग-आन्दोलन जाति की ओर से इस बात का नोटिस है कि वह अब और ज्यादा दिनों तक दूसरों की संरक्षकता में रहकर सन्तोष न करेगी। हिन्दुस्तान ने तलवार या मारकाट के अस्वाभाविक और अधार्मिक सिद्धान्त के स्थान पर असहयोग के निर्दोष, प्राकृतिक और धार्मिक सिद्धान्त को ग्रहण किया है। अगर हिन्दुस्तान कभी उस स्वराज्य को प्राप्त करेगा, जिसका स्वप्न रबीन्द्र बाबू देख रहे हैं तो वह सिर्फ शान्तिपूर्वक असहयोग-आन्दोलन के द्वारा प्राप्त करेगा। वह चाहें तो संसार को अपना शान्तिपूर्ण सन्देशा सुनावें और इस बात का भरोसा रखें कि हिन्दुस्तान अगर अपनी बात का धनी बना रहेगा तो अपने असहयोग द्वारा उनके सन्देश को अवश्य सच्चा साबित करेगा। रबीन्द्र बाबू जिस देशभक्ति के लिए उत्सुक हो रहे हैं, उसे अमली तौर पर पैदा करने को ही यह आन्दोलन किया गया है। हिन्दुस्तान, जो यूरोप के पैरों के नीचे पड़ा हुआ है, संसार को कोई आशा नहीं दिला सकता। स्वतन्त्र और जाग्रत भारत ही दुखी संसार को शान्ति और सुख का सन्देशा सुना सकता है। असहयोग-आन्दोलन इसीलिए चलाया गया है कि जिसमें भारतवर्ष एक ऊँचे स्थान से अपना सन्देशा उस संसार को सुना सके। (यं. इं., 01.06.1921)

...टैगोर की क्या बात! उन्होंने क्या नहीं साधा? साहित्य का एक भी क्षेत्र उन्होंने छोड़ा है? और सबमें कमाल... ऐसी अलौलिक शक्तिवाला आदमी हमारे यहाँ तो है ही नहीं, लेकिन दुनिया में भी होगा या नहीं, इसमें मुझे शक है।

वल्लभभाई बोले- 'मगर उनका शान्तिनिकेतन चलेगा? तो वह बूढ़े हो गये और उनकी जगह लेने वाला कोई रहा नहीं।'

बापू ने कहा-

...बात तो ज़रूर मुश्किल है। मगर यह तो कैसे कहा जा सकता है। भगवान ने इतनी असाधारण प्रतिभावाला आदमी पैदा किया तो उसे यह तो मंजूर नहीं होगा कि उसका काम यों ही बन्द हो जाय।

वल्लभभाई कहने लगे— यह तो ठीक है। मगर उनकी जो आवश्यकताएँ हैं उन सबको कौन किस क्षेत्र में ला सकेगा? मैंने (महादेवभाई) कहा— नन्दलाल बोस, असित हलदार— जैसे उत्तम चित्रकार वहाँ मौजूद हैं, विधुशेखर शास्त्री भी हैं। वल्लभभाई बोले— चित्रकला तो ठीक है। मगर उसकी पाठशालाएँ कितनी चल सकती हैं? हमारा तो खादी और चरखा है। उसके लिए बापू थोड़े ही चाहिए! ये तो बापू न होंगे तो दूधाभाई भी आकर चलाते रहेंगे। उन्होंने कोई ऐसी चीज नहीं दी, जिसे लोग अपने हाथों में ले सकें और जो अखण्ड रूप में चलती रहे।

मैंने तुरन्त कहा— टैगोर के बारे में यह कहा जा सकता है कि आज तक उनके यहाँ असाधारण प्रतिभा वाले लोग खिंचकर न आये हों तो शायद अब उनके काम को जारी रखने के लिए वह आ जायँ। शान्तिनिकेतन को उनके आदर्श के अनुसार ही जारी रखने के लिए नये आदमी क्यों न शरीक होंगे? बापू ने कहा—

आज उनकी प्रचण्ड शक्ति से ज्यादा लोग आकर्षित न हों तो भविष्य में आकर्षित हो सकते हैं। आज भी रामानन्द चटर्जी-जैसे लोग तो है ही और ईश्वर कृपा हो तो और लोग भी आ सकते हैं। और उनका श्रीनिकेतन का काम तो जारी ही रहेगा। एकहर्स्ट— जैसा आदमी विलायत छोड़कर इसे चलाने के लिए चला आये तो मुझे आश्चर्य नहीं होगा।

(महादेव की डायरी)

आप (डा. कागावा) शान्तिनिकेतन देखे बगैर चले जायँ, यह कैसे हो सकता है।

कागावा— मैंने कवि के काव्यों को पढ़ा है। मुझे वे बहुत प्रिय हैं।

गांधीजी— किन्तु कवि आपको प्रिय है न?

कागावा— मैं रोज 'गीतांजलि' पढ़ा करता हूँ तो क्या रोज कवि का सान्निध्य अनुभव नहीं करता? हो सकता है कि कवि अपने काव्यों से महान् हो।

गांधीजी— कभी-कभी इसका उल्टा सत्य होता है; पर रबीन्द्रनाथ टैगोर के विषय में यह कहूँगा कि अपने महाकाव्यों से भी वह महान् हैं। अब एक दूसरा प्रश्न पूछता हूँ। आपके

प्रवास क्रम में पांडिचेरी है या नहीं? आप अगर अर्वाचीन भारतवर्ष का अध्ययन करना चाहते हैं तो शान्तिनिकेतन और अरविन्द-आश्रम आपको देखने ही चाहिए। (ह. से., 28. 01.1939)

शान्तिनिकेतन में आगमन मेरे लिए एक तीर्थयात्रा के समान था। बहुत दिनों से मेरी इच्छा वहाँ जाने की थी, लेकिन यह अवसर मलिकन्दा जाते समय ही मुझे मिल सका। मेरे लिए शान्तिनिकेतन नया नहीं है। 1915 में जब इसकी रूपरेखा बन रही थी जब मैं वहीं था। इसका मतलब यह नहीं कि अब इसका निर्माण-क्रम रुक गया है। गुरुदेव खुद विकसित हो रहे हैं। वृद्धावस्था के कारण उनके मन के लचीलेपन में कोई अन्तर नहीं पड़ा है। इसलिए जब तक गुरुदेव की भावना की छाया उसके ऊपर है तब तक शान्तिनिकेतन की वृद्धि रुक नहीं सकती। वहाँ प्रत्येक मनुष्य की उनके प्रति जो श्रद्धा है वह ऊपर उठाने वाली है, क्योंकि वह सहज है। मुझे तो इसने अवश्य ही ऊँचा उठाया। कृतज्ञ छात्रों और अध्यापकों ने उनको जो उपाधि 'गुरुदेव' की दे रखी है, उससे शान्तिनिकेतन में उनकी स्थिति ठीक-ठीक व्यक्त होती है। यह स्थिति उनकी इसलिए है कि वह उस स्थान और वहाँ के समूह में निमग्न हो गये हैं, अपने को भूल गये हैं। मैंने देखा कि वह अपनी प्रियतम कृति 'विश्वभारती' के लिए जी रहे हैं। यह चाहते हैं कि यह फूले-फले और अपने भविष्य के विषय में निश्चिन्त हो जाय। इसके बारे में उन्होंने मुझ ये देर तक बातचीत की। लेकिन इतना भी उनके लिए काफी नहीं था, इसलिए जब हम विदा हो रहे थे तब उन्होंने मुझे नीचे लिखा बहुमूल्य पत्र दिया :

प्रिय महात्माजी,

आपने आज सुबह ही हमारे कार्य के 'विश्व-भारती' केन्द्र का विहंगावलोकन किया है। मैं नहीं जानता कि आपने इसकी मर्यादा का क्या अन्दाजा लगाया है। आप जानते है कि यद्यपि अपने वर्तमान रूप में यह संस्था राष्ट्रीय है, तथापि अन्त:भावना की दृष्टि से यह एक सार्वदेशिक-अन्तर्राष्ट्रीय संस्था है और अपने साधनों के अनुसार भरसक शेष जगत् को भारत की संस्कृति का आतिथ्य प्रदान करती है।

एक बड़े गाढ़े अवसर पर आपने बिल्कुल टूटने से इसे बचाया और अपने पांव पर खड़े होने में इसकी सहायता की; आपके इस मित्रतापूर्ण कार्य के लिए हम आपके निकट सदा आभारी हैं।

और अब शान्तिनिकेतन से आपके विदा होने के पहले मैं आपसे जोरदार अपील करता हूँ कि यदि आप इसे एक राष्ट्रीय संपत्ति समझते हैं तो इस संस्था को अपने संरक्षण में लेकर इसे स्थायित्व प्रदान करें। 'विश्वभारती' उस नौका के समान है, जो मेरे जीवन के सर्वोत्तम

रत्नों से भरी हुई है और मुझे आशा है कि अपनी रक्षा के लिए अपने देशवासियों से यह विशेष देख-रेख पाने का दावा कर सकती है।

प्रेमपूर्वक
रबीन्द्रनाथ टैगोर

इस संस्था को अपने संरक्षण में लेनेवाला मैं कौन होता हूँ? चूँकि यह एक ईमानदार आत्मा की कृति है, इसलिए ईश्वर का संरक्षण इसके साथ है। वह कोई दिखावे की चीज नहीं है। गुरुदेव स्वयं सार्वदेशिक-अन्तर्राष्ट्रीय हैं, क्योंकि वह सच्चे रूप में राष्ट्रीय हैं। इसलिए उनकी सम्पूर्ण कृतियाँ सार्वदेशिक हैं और 'विश्वभारती' उन सबमें श्रेष्ठ है। मुझे इसमें किसी तरह का सन्देह नहीं कि जहाँ तक आर्थिक बोझ का सम्बन्ध है इसके भविष्य के बारे में गुरुदेव को सम्पूर्ण चिन्ता से मुक्त कर देना चाहिए। उनकी हृदयग्राही अपील के जवाब में जो कुछ सहायता करने लायक मैं हूँ, करने का मैंने उनको वचन दिया है। (ह. से., 02.03.1940)

'मैं यहाँ आप लोगों के लिए कोई अतिथि या मेहमान बनकर नहीं आया हूँ। शान्तिनिकेतन तो मेरे लिए घर से भी अधिक है। जब 1914 में मैं इग्लैण्ड से लौटने वाला था तब वहीं तो मेरे दक्षिण अफ्रीका वाले कुटुम्ब का प्रेमपूर्वक आतिथ्य हुआ था और यहाँ मुझे भी करीब एक महीने तक आश्रय मिला था। जब मैं आप सब लोगों को अपने सामने एकत्रित देखता हूँ तो उन दिनों की याद मेरे हृदय पर छा जाती है। मैं कितना चाहता हूँ कि यहाँ ज्यादा दिन ठहरूँ; पर अफसोस कि यह संभव नहीं। यहाँ कर्तव्य का प्रश्न है। उस दिन एक मित्र को एक पत्र में मैंने लिखा था कि शान्तिनिकेतन और मलिकन्दा की यह यात्रा मेरे लिए तीर्थयात्रा है। सचमुच इस बार शान्तिनिकेतन मेरे लिए 'शान्ति' का 'निकेतन' सिद्ध हुआ। मैं यहाँ राजनीति की सब चिन्ता और झंझट छोड़कर मात्र गुरुदेव के दर्शन और आशीर्वाद लेने आया हूँ। मैंने अक्सर एक कुशल भिक्षुक होने का दावा किया है। लेकिन आज गुरुदेव का मुझे जो आशीर्वाद मिला है उससे बढ़कर दान मेरी झोली में कभी किसी ने नहीं डाला। मै। जानता हूँ कि उनका आशीर्वाद तो मुझे हमेशा ही है। मगर आज मेरा खास सौभाग्य है कि उन्हीं के हाथों रूबरू मुझे आशीर्वाद मिला और इस कारण मेरे हर्ष का पार नहीं। (ह. से., 30.03.1940)

डा. रबीन्द्रनाथ टैगोर के निधन से हमने न केवल अपने युग के सबसे बड़े कवि को ही, बल्कि एक उत्कट राष्ट्रवादी को, जो कि मानवता का पुजारी भी था, खो दिया है। शायद ही कोई ऐसी सार्वजनिक प्रवृत्ति होगी, जिस पर उनके शक्तिशाली व्यक्तित्व की छाप न पड़ी हो। शान्तिनिकेतन और श्रीनिकेतन के रूप में उन्होंने समस्त राष्ट्र के लिए ही नहीं, अपितु समस्त संसार के लिए विरासत छोड़ी है। प्रभु उस महान् आत्मा को शान्ति दे और शान्तिनिकेतन के जिन संचालकों पर इसका उत्तरदायित्व आ पड़ा है, वह उसके योग्य सिद्ध हों। (07.08.1941)

17 तारीख गुरुदेव का श्राद्ध-दिवस है। जारे लोग श्राद्ध को धार्मिक महत्त्व देते हैं, वह निस्सन्देह उस दिन निर्जल उपवास करेंगे या केवल फलों पर रहेंगे और अपना समय प्रार्थना में बितायेंगे। प्रार्थना व्यक्तिगत रूप में की जा सकती है अथवा सामूहिक रूप में। प्रत्येक नगर और प्रत्येक ग्राम के निवासी, जिन्होंने उनके उस ऊँचा उठाने वाले सन्देश को सुना है, जो उन्होंने अपनी कृतियों द्वारा दिया तथा जिसे उन्होंने अपने जीवन में जिया, सुविधानुसार किसी समय एकत्र होंगे और उस दिव्यजीवन के बारे में चिन्तन करेंगे और अपने-आपको देश-सेवा के लिए समर्पित कर देंगे।

गुरुदेव का ध्येय शान्ति और सद्भावना था। वह साम्प्रदायिक बन्धनों से अपरिचित थे। इसलिए मैं आशा करता हूँ कि सब वर्ग एक स्वर से इस पवित्र दिन को मनायेंगे और साम्प्रदायिक ऐक्य को बढ़ावा देंगे।

मैं लोगों को यह भी याद दिलाना चाहूँगा कि दीनबन्धु-स्मारक-कोष का अधिकांश अभी इकट्ठा किया जाना है। यह कहते दु:ख होता है कि यह कोष अब गुरुदेव-स्मारक-कोष भी बन गया है, कारण कि स्मारक के लिए इकट्ठा किया जाने वाला सब धन केवल शान्तिनिकेतन के, जिसमें विश्व-भारती और श्रीनिकेतन भी सम्मिलित हैं, संचालन और संवर्द्धन के लिए व्यय किया जाएगा। इससे गुरुदेव के लिए और विशेष स्मारक की आवश्यकता समाप्त नहीं हो जाती। लेकिन इस पर विचार करना उस समय तक विडम्बना मात्र होगी जब तक कि वह स्मारक पूरा न हो जाय, जिसका बीजारोपण स्वयं गुरुदेव ने किया था। (12.08.1941)

दीनबन्धु एण्ड्रूज स्मारक और गुरुदेव स्मारक दोनों पर्यायवाची शब्द हैं। गुरुदेव ने दीनबन्धु स्मारक का आरम्भ किया था, लेकिन उसकी पूर्ति के पहले ही वह दीनबन्धु के अनुगामी बन गये। इसलिए दीनबन्धु का स्मारक अब गुरुदेव का भी स्मारक बन गया है। स्मारक का हेतु इन दो महान् आत्मों के अनुरूप ही है। शान्तिनिकेतन, विश्वभारती और श्रीनिकेतन की समृद्धि और रक्षा ही वह हेतु है। ये तीनों संस्थाएँ वास्तव में एक ही हैं। यह बड़े दु:ख और शर्म की बात है कि पाँच लाख की यह छोटी-सी रकम धनिकों, विद्यार्थियों या मजदूरों की ओर से अभी तक इकट्ठी नहीं हो पाई है। हर कोई यह मानता है कि गुरुदेव के और उनकी संस्था के कारण हिन्दुस्तान को वह यश और प्रतिष्ठा प्राप्त हुई है जो किसी व्यक्ति या संस्था के कारण उसे कभी प्राप्त नहीं हुई। शान्तिनिकेतन का ही यह प्रभाव था कि जिससे प्रभावित होकर जीवन के सेनाध्यक्ष चांगकाई शेक और श्रीमती चांगकाई शेक ने उसे इतनी बड़ी रकम भेंट की थी। शान्तिनिकेतन में जो काम हो रहा है, उसको देखते हुए उसका खर्च न कुछ-सा है। कारण यह है कि जो लोग शुद्ध अवैतनिक काम नहीं करते, वह भी अपेक्षाकृत कम वेतन लेकर काम कर रहे हैं। अब तक स्मारक-निधि में कुल करीब एक लाख रुपये इकट्ठे हुए हैं। मुझे आशा है कि स्मारक की बाकी रकम जल्दी ही जमा

हो जायगी। और मुझको धन-संग्रह के लिए दौरा करने की कोई जरूरत न रह जायगी। स्मारक की रकम को पूरी करने के लिए मैं वचनबद्ध हूँ। जब गुरुदेव मृत्यु-शय्या पर थे, मैंने उन्हें अपने आखिरी पत्र में लिखा था कि अगर ईश्वर की मर्जी हुई तो मैं दीनबन्धु-स्मारक की पूरी रकम वसूल कर लूँगा। दीनबन्धु को शान्तिनिकेतन की आर्थिक स्थिति की चिन्ता दिन-रात बनी रहती थी। वह इस चिन्ता को मेरे पास बतौर धरोहर के छोड़ गये हैं। हिन्दुस्तान के और मानवता के इन दो सेवकों की इस पुकार की मैं जरा भी उपेक्षा नहीं कर सकता। जिनके मन में इन दोनों महापुरुषों की स्मृति के लिए आदर है और जो गुरुदेव की सजीव कृति के मूल्य को समझते हैं, उनसे निवेदन है कि वह स्वेच्छा से लिए हुए इस दायित्व को निभाने में मेरी मदद करें। (ह. से., 26.04.1942)

गुरुदेव की देह खाक में मिल चुकी है, लेकिन उनके अन्दर जो जोत थी, जो उजाला था, वह तो सूरज की तरह था, जो तब तक बना रहेगा जब तक धरती पर जानदार रहेंगे। गुरुदेव ने जो रोशनी फैलाई वह आत्मा के लिए थी। सूरज की रोशनी जैसे हमारे शरीर को फायदा पहुँचाती है, वैसे गुरुदेव की फैलाई रोशनी ने हमारी आत्मा को ऊपर उठाया है। वह एक कवि थे और प्रथम श्रेणी के साहित्यिक थे। उन्होंने अपनी मातृ-भाषा में लिखा और सारा बंगाल उनकी कविता के झरने से काव्यरस का गहरा पान कर सका। उनकी रचनाओं के अनुवाद बहुत-सी भाषाओं में हो चुके हैं। वह अंग्रेजी के भी बहुत बड़े लेखक थे और शायद बिना अंग्रेजी जाने ही वह उस जबान के इतने बड़े लेखक बन गये थे। मदरसे की पढ़ाई तो उन्होंने की थी, लेकिन युनिवर्सिटी की कोई डिग्री उन्होंने नहीं ली थी। वह तो बस गुरुदेव ही थे। हमारे एक वाइसराय ने उनको एशिया का कवि कहा था। उससे पहले किसी को ऐसी पदवी नहीं मिली थी। वह समूची दुनिया के भी कवि थे। यही क्यों, वह तो ऋषि थे। हमारे लिए वह अपनी 'गीतांजलि' छोड़ गये हैं, जिसने उनको सारी दुनिया में मशहूर कर दिया। तुलसी दास जी हमारे लिए अपनी अमर रामायण छोड़ गये हैं। वेदव्यासजी ने महाभारत के रूप में हमारे लिए मानव-जाति का इतिहास छोड़ा है। ये सब निरे कवि नहीं थे। ये तो गुरु थे। गुरुदेव ने भी सिर्फ कवि के नाते ही नहीं, ऋषि की हैसियत से भी लिखा है। लेकिन सिर्फ लिखना ही उनकी अकेली खासियत नहीं थी। वह एक कलाकार थे, नृत्यकार थे और गायक थे। बढ़िया-से-बढ़िया कला में जो मिठास और पवित्रता होनी चाहिए, वह सब उनमें और उनकी चीजों में थी। नई-नई चीजें पैदा करने की उनकी ताकत ने हमको शान्तिनिकेतन, श्रीनिकेतन और विश्वभारती जैसी संस्थाएँ दी हैं। अपनी इन संस्थाओं में वह भावरूप से विराजमान हैं, और ये अकेले बंगाल को ही नहीं, बल्कि समूचे हिन्दुस्तान को उनकी विरासत के रूप में मिली है। शान्तिनिकेतन तो हम सबके लिए असल में यात्रा का एक ही बन गया है। गुरुदेव अपने जीते-जी इन संस्थाओं को वह रूप नहीं दे पाये जो वह देना चाहते थे, जिसका वह सपना देखते थे। कौन है, जो ऐसा कर पाया हो? आदमी के

मनोरथ को पूरा करना तो भगवान के हाथ में है। फिर भी ये संस्थाएँ हमें उनकी कोशिशों की याद दिलायेंगी और हमेशा हमको यह बताती रहेंगी कि गुरुदेव के मन में अपने देश के लिए कितनी गहरी प्रीति थी और उन्होंने उसकी कितनी-कितनी सेवाएँ की हैं। उनके रचे कौमी गीत को आप सभी सुन चुके हैं। हमारे देश के जीवन में इस गीत की अपनी एक जगह बन गई है। हजारों-लाखों लोग एक साथ इसकी प्रेरणा पहुँचाने वाली कड़ियों को अक्सर गाते रहते हैं। यह सिर्फ गीत ही नहीं है, बल्कि भक्ति-भाव से भरा भजन भी है। (ह. से., 19.05.1946)

हमारे युग के दो श्रेष्ठ प्रतिनिधि

–काका साहब कालेलकर

आज की दुनिया भारत की आत्मा को दो विभूतियों के द्वारा पहचानती है, और वे हैं महात्मा गांधी और कविवर रबीन्द्रनाथ।

वैसे तो हमारे जमाने में भारतीय चिन्तन और पुरुषार्थ के प्रतिनिधि कई एक हो गए हैं और उनका असर दुनिया पर भी हुआ है। बहुत बार हम मानते हैं, उतना उनका असर नहीं होता। इससे उल्टा हो भी सकता है। लेकिन इन दो विभूतियों का व्यापक प्रभाव हम जितना देखते हैं, उतना दूसरों का नहीं है। स्वामी विवेकानन्द ने भारत की ओर आदर की नजर से देखने की आवश्यकता दुनिया के सामने खड़ी की और वेदान्त को जिन्दा प्रेरणा बना दिया। थियोसॉफी ने वही काम दूसरे ढंग से किया, आनन्द कुमार स्वामी ने कला और संस्कृति के क्षेत्र में आध्यात्मिक दृष्टि का महत्व बताया। जबकि श्री अरविंद घोष ने योगविद्या और अध्यात्म की सर्वोपरिता और शुद्ध शक्ति दर्शन का महत्व दुनिया के सामने पेश किया। कर्म के क्षेत्र में पंडित जवाहरलाल जी ने और अभी-अभी कुछ हद तक श्री विनोबा ने दुनिया का ठीक-ठाक ध्यान आकर्षित किया है और लोग उनका संदेशा समझने की कोशिश कर रहे हैं। यह सब होते हुए भी फिर से कहना पड़ता है कि आज दुनिया पर विशेष प्रभाव तो रबीन्द्रनाथ और गांधीजी दो का ही है।

हम यह तो कह नहीं सकते कि दुनिया इन दो मार्ग पर चलने को तैयार हुई है। लेकिन अध्यात्म, वेदान्त, योग, कर्मयोग, आत्मयोग और सत्याग्रह ये सब चीजें इन दो विभूतियों के जीवन द्वारा और लेखन द्वारा सजीवता से व्यक्त हुई हैं।

स्वराज्य का हमारा आन्दोलन दूर देश में चल रहा था, उस समय भी मैंने लिखा था कि रबीन्द्रनाथ के साथ मतभेद चाहे जितना हो, आचार्य कृपलानी, काका कालेलकर, नानाभाई भट्ट और ऐसे हम सब रबीन्द्रनाथ के ही अनुयायी हैं और यह गांधीजी की कैसी उदारता है कि ऐसे हम सब को अपनाकर अपने विचार द्वारा जहाँ तक अमल में लाए जा सकते हैं धीरज रखकर लाने का उन्होंने निश्चय किया है। उस समय मैंने यह भी लिखा था कि वास्तव में और व्यापक अर्थ में गांधीजी शक्ति के उपासक हैं। सृष्टि में आध्यात्मिक शक्ति

जागृत करके विमुक्ति की खातिर उसे केंद्रित और संगठित करने की उनकी कोशिश है।

उस जमाने में फ्रांस के रोमाँ रोलाँ ने टैगोर और गांधी दोनों के बारे में लिखते कहा था कि दोनों के प्रति हमारे मन में आदर है, दोनों पूज्य विभूतियाँ हैं, किन्तु रबीन्द्रनाथ हमारे लिए अधिक निकट के मालूम होते हैं।

आज इतने सालों के बाद जवाहरलाल जी भी कहते हैं कि महात्मा जी और कविवर दोनों के असर तले हम लोगों की परवरिश हुई है और फिर आगे उन्होंने कहा कि स्वयं कुछ झुकते हों, तो रबीन्द्रनाथ की तरफ ही झुकते हैं।

ऐसे वायुमण्डल में हर एक आदमी को अन्तर्मुख होकर चिन्तन करना पड़ता है कि सचमुच इन दो विभूतियों की जीवन-प्रेरणा क्या-क्या थी ? और खुद को आत्मिक समाधान अधिक किस में से प्राप्त होता है।

मैं स्वयं जब अपने हृदय से पूछता हूँ और अपने जीवन विकास की जाँच करता हूँ तब स्पष्ट देखता हूँ कि कर्मकांडी ब्राह्मण संस्कारों में पला हुआ मैं, महाराष्ट्र के सन्तों के भक्ति मार्ग से यानि की अभेद भक्ति से प्रारम्भ करके धीरे-धीरे प्रार्थना समाज-ब्रह्मसमाज की ओर झुका। उसका गहरा असर होता, उससे पहले ही विज्ञानवादी शुद्धि-बुद्धि उपासकों का मैं चेला बन गया। उसने मेरे अभिमान को पुष्ट किया, लेकिन आन्तरिक नम्रता ने विश्वास दिलाया कि सच्चा समाधान इस रास्ते नहीं मिल सकता। उसमें से स्वामी विवेकानन्द, रामकृष्ण परमहंस और स्वामीजी के चलाए हुए नव वेदान्त ने मेरा कब्जा किया, जिसका असर आज भी कायम है। उसमें से भगिनी निवेदिता ने समाज शास्त्र की दृष्टि जागृत की और उससे हिन्दु जाति के पुरुषार्थ के प्रति मेरा ध्यान आदर के साथ गया। आनन्द कुमार स्वामी, लाला हरदयाल, बाबू भगवानदास आदि अनेक लोगों ने भारतीय संस्कृति के अनेक पहलुओं को जीवित कर दिखाया।

राजनीतिक क्रान्ति प्रेरणा जितनी मुझे भगवद्गीता में से और लोकमान्य तिलक के पास से मिली थी, उतनी ही बिपिनपाल, लाजपत राय, अरविन्द घोष के पास से भी मिली थी।

इस प्रकार के जीवन रसायन में तैयार हुआ और मैं एक साथ रबीन्द्रनाथ और गांधीजी दोनों का असर स्वीकार कर सका और इन दो विभूतियों के बीच का जमीन आसमान का फर्क जानते हुए भी उनके बीच रहा हुआ साधर्म्य और जीवन के आदर्श का ऐक्य परख सका और वही मेरी उसके बाद की स्थायी प्रेरणा बन बैठी है।

लेखन के प्रवाह में मैं कह गया कि इन दो के बीच जमीन आसमान का फर्क है। लेकिन उसमें जमीन कौन-सी और आसमान कौन-सा मैं कह नहीं सकता। जमीन यानि पार्थिव और आसमान यानि दैवी आध्यात्मिक ऐसा भेद यदि स्वीकारने गए तो यह भेद मैं लागू नहीं कर सकता। मैं जानता हूँ कि त्याग और वैराग्य अध्यात्म के लक्षण गिने जाते हैं। इनमें गांधीजी की साधना अत्यन्त उत्कृष्ट हुई, जबकि रबीन्द्र को त्याग और वैराग्य साधना के तौर पर

अधिक खींच न सके। यह सब जानते हुए भी मेरा मन दोनों को आध्यात्मिक विभूति के तौर पर स्वीकार करता है और गांधीजी का जीवन-दर्शन एकांगी था, ऐसा कोई कहना चाहे तो मैं नि:शंक कह सकता हूँ कि वह भूल होगी। गांधीजी ने ध्यान, चिन्तन, मन्त्र साधना और योग-साधना के पीछे वक्त भले न गँवाया हो, जो कोई यह समझे कि इसलिए गांधीजी की आराधना कम दर्जे की थी, तो वह भी भूल होगी।

अपने आन्दोलन के उत्कृष्ट दिनों में भी गांधीजी का जीवन-दर्शन कभी धुंधला नहीं हुआ था और न ही एकांगी हुआ था। और गौहाटी कांग्रेस के प्रमुख ने जब देश की प्रगति का निवेदन प्रस्तुत किया, तब रबीन्द्रनाथ की सेवा प्रमुख साहब भूल गए हैं। इस ओर सबसे प्रथम और भारपूर्वक ध्यान आकर्षित किया था गांधीजी ने ही।

सत्याग्रह के सैनिक तैयार करने का और अहिंसक प्रतिकार की तैयारी करने का काम गांधीजी को जल्द से जल्द करना पड़ा, इसीलिए उनकी तैयारी तत्क्षण उपयोगी हो, वह स्वाभाविक था। फिर भी देश में जितने सांस्कृतिक कार्य चलते थे, आध्यात्मिक बल काम करते थे उन सबकी योग्य कदर गांधीजी ने की है।

हमेशा होता आया है उसके मुताबिक गांधीजी और रबीन्द्र-दोनों के अनुयायियों ने दोनों के बीच किन-किन बाबतों में भेद है उनकी चर्चा चलायी। फिर भी गांधीजी और रबीन्द्रनाथ-दोनों ने परस्पर के कार्यों का पुरस्कार ही किया है। यह सही है कि असहयोग के समय गांधीजी की भूमिका रबीन्द्रनाथ समझ न सके, लेकिन उन्होंने यह देखा होता कि असहयोग के उत्कृट नेता होने पर भी, गांधीजी ने स्वराज्य मिलते ही कॉमनवैल्थ में रहने के ब्रिटेन के आमन्त्रण को कबूल कर लेने की सलाह देश को दी, इतना ही नहीं, लेकिन स्वराज्य के हर्षोत्सव के समय जब एशिया के राष्ट्र इकट्ठा हुए और भारत का जय-जयकार व अभिनन्दन हुआ तब भी उन्होंने कहा कि सिर्फ एशिया का संगठन करते हुए हम अखिल मानवता का संगठन करने वाले हैं। हमें पश्चिम का मुकाबला नहीं करना है, विरोध भी नहीं करना है, उसके साथ भी सहयोग करना ही है। इस भूमिका को जानने के लिए यदि रबीन्द्रनाथ जिन्दा होते तो उनके मन का सारा सन्देह दूर हो जाता। गांधीजी की आध्यात्मिक भूमिका और रबीन्द्र की आध्यात्मिक भूमिका-दोनों तत्वत: एक ही थी। राजनीति में आत्मगौरव को सम्भाल कर मानवता के जोरों ही आगे बढ़ना है, यह दोनों को मंजूर था। फिर भी दोनों की मनोवृत्ति अलग, कार्यशक्ति भिन्न-भिन्न और जीवन दर्शन की विशेष एकरूपता नहीं थी और इसीलिए दोनों के जीवन कार्य एक-दूसरे से अलग फिर भी परस्पर पोषक हुए। एक थे सत्य अहिंसापरायण कर्मवीर और दूसरे थे चिन्तनपरायण साहित्यवीर, दोनों की रचनात्मक दृष्टि समान फिर भी कार्यक्रम अलग-अलग। मानों ईश्वर ने ही योजना बना रखी थी कि भारतीय मानव रबीन्द्र के रास्ते जाए या गांधीजी के रास्ते से जाय, भारतीय उत्थान में मदद ही करेगा और स्वराज्य मिलने के बाद दोनों की प्रवृत्तियों का समन्वय ही होगा।

किसी विशेष चर्चा किए बगैर गांधीजी ने भारत में बहते सभी प्रवाहों को एकत्र किया। सब लोगों को परस्पर पोषक बनाया और देखते-देखते एक भव्य आदर्श राष्ट्र हृदय में बो कर उनके सुवर्ण अंकुर का हमें दर्शन कराया।

एक ही युग के, एक ही देश के और एक ही मिशन के इन दो प्रतिनिधियों के युग कार्य का आकलन और अध्ययन हमें समुच्चय से करना चाहिए। और वह समुच्चय ज्ञान-कर्म सम्मुचय जितना ही हमें अद्वैत या अभेद की तरफ ले जाने वाला सिद्ध होगा।

इतनी प्रस्तावना करने के बाद रबीन्द्रनाथ के जीवन दर्शन की बात करना भी आसान होगा।

'जन गण मन' वाला राष्ट्रगीत लें, अथवा 'हे मोर चित्त पुण्ण तीर्थ जागो रे' वाला भारत का रहस्य इतिहास जाँचे- हमें तो प्रेरणा एक ही मिलती है और वह है सर्वोच्च आस्तिकता की। कोई मुझसे पूछे कि आस्तिकता यानि क्या है? तो मैं बिना संकोच कहूँगा कि रबीन्द्रनाथ के समस्त साहित्य में जो एकधारी निष्ठा रही हुई है, उसे मैं आस्तिकता कहता हूँ।

रबीन्द्रनाथ भी अद्वैतवाद के ही उपासक थे, लेकिन दार्शनिक ढंग के नहीं। ब्रह्म समाज के असर में होने के कारण उन्हें ब्रह्मोपासक भले कहें, लेकिन थे वे जीवनोपासक। जीवन सर्वत्र एक अखंड है, समृद्ध है, कल्याणमय है और अन्ततोगत्वा वह सफल ही होने वाला है, कल्याणकारी सिद्ध होने वाला है। उस तरह की श्रद्धा-निष्ठा रबीन्द्रनाथ ने कभी खोई नहीं है। सारे विश्व की उस कल्याणमयता का साक्षात्कार यह रबीन्द्रनाथ में सबसे बड़ी सुन्दरता यानि विश्रीपन का और आंत्यतिक संघर्ष का अभाव, सामंजस्य और समन्वय। ऐसे समन्वय में तात्कालिक संघर्ष और मानसिक वैमनस्य भी अन्तिम एकता का पोषक ही बनेंगे।

रबीन्द्रनाथ, रंग-रूप, लावण्य आदि आकृति के रसिक उपासक थे और फिर भी उनकी रूप, रस, गंध की अनुभूति छिछली न थी। सत्यम्, शिवम्, सुन्दरम् इन तीनों के बीच का भेद जानते हुए भी उनके बीच विसंवाद या विरोध उन्होंने माना न था। आज के युग में कोई भी मनुष्य यदि हिन्दु धर्म का रहस्य समझना चाहे तो उसे रबीन्द्रनाथ का 'गोरा' उपन्यास ध्यानपूर्वक पढ़ना चाहिए। सनातन धर्म, ब्रह्मसमाज और इसाई धर्म का प्रचार-तीनों का असर बंगाल की जनता पर पड़ा हुआ था, उनमें से सार निकाल कर उन्होंने उपन्यास उपजाया और परेशबाबू और आनन्दमयी-इन दो पात्रों के द्वारा हमें भारतीय जनता का जीवन दर्शन करवाया।

रबीन्द्रनाथ ने हजारों गीत लिखे हैं। अंसख्य काव्य हमें दिए हैं। गीतांजलि मूल बंगाली वैसी ही अंग्रेजी हमारे हृदय की उत्तम खुराक है। फिर भी आश्चर्य मुझे इस बात का होता है कि अंग्रेजी भाषा के जरिए दुनिया के सामने पेश करने को उन्होंने यह सौ गीत किस तरह पसन्द किए। आज दुनिया का हर एक संस्कारी पुरुष मानता और कहता

है कि उसकी अपनी आकांक्षा का उत्तम प्रतिबिम्ब वह गीतांजलि में देख सकता है। दुनिया में ऐसे ग्रन्थ बहुत ही कम हैं, जिनके बारे में यह कह सकें कि उसकी अनुभूति पूरे पूरी विश्वजनीन है।

रबीन्द्रनाथ की समाजसेवा की तमाम प्रवृत्ति के मूल में उनका जो जीवन-दर्शन है, वह हमें उनके 'स्वदेशी' 'समाज' वगैरह निबन्ध में मिलता है। उन निबन्धों में समाज का और समाज सेवा का जो उच्च आदर्श पेश हुआ है, उसके पेश करने का ढंग भी अपने हृदय को उन्नत करता है।

रबीन्द्रनाथ ने भारत के इतिहास का निचोड़ निकालकर दिया, काव्यों में भाषणों में और अपने खतों में- यह देखते हुए भी हमें लगता है कि इस भव्य कवि ने किसी भी उतरती वस्तु को आवकार नहीं दिया।

सचमुच रबीन्द्रनाथ को अनुभव और चिन्तन के द्वारा और ईश्वर के कृपा-प्रसा द्वारा मानवता का उच्च-उन्नत दर्शन हुआ था। और वह दर्शन उन्होंने अपनी कविता द्वारा तमाम प्रवृत्तियों के द्वारा भारत को और दुनिया को करवाया था।

गांधीजी की प्रवृत्ति इतनी ज्यादा राजद्वारी और अहिंसक प्रतिकार रूपी नए ढंग की लड़ाई थी कि उनका आध्यात्म बहुत से लोग नहीं समझ सकते थे। हमारे लोगों की कुछ ऐसी मान्यता है कि जो लोग समाज से अलिप्त रहते हैं, उच्चासन पर बैठकर उपदेश करते हैं, लोगों से सम्बन्ध रखते हैं तो वह सिर्फ चरण-स्पर्श तक और दक्षिणा लेने तक ही रखते हैं, वे ही आध्यात्मिक हैं। जबकि सच्ची और पक्की आध्यात्मिकता तो गांधीजी जैसों के जीवन में ही मिलनी चाहिए। क्योंकि गांधीजी सामान्य से सामान्य अनपढ़ और गरीब लोगों के हृदय में रही हुई आत्मशक्ति को विश्वास में रखकर उसे स्पष्ट कर सकते थे और उस आत्मशक्ति द्वारा महान राष्ट्र कार्य करते थे। वे मानते थे और कहते थे कि जो आध्यात्म सामान्य लोगों के जीवन में उतर न सके, दुनियावी मनुष्य की मदद न कर सके वह अध्यात्म ही नहीं है।

जो अकिंचन है, अनपढ़ है, रोज की रोटी कमाने के पीछे जिन्हें अपनी तमाम शक्ति खर्च करनी पड़ती है और जो जीवन कलह की विषमता के कारण सत्य, अहिंसा, क्षमा, प्रेम, उदारतामूलक सहयोग आदि आध्यात्मिक तत्वों पर श्रद्धा नहीं रख सकते, ऐसे लोगों के बीच गांधीजी ने काम किया। और वह काम करते-करते लोगों में श्रद्धा, आत्मविश्वास (यानि आत्मशक्ति पर का विश्वास) और आर्यता वे जागृत कर सके।

गांधीजी में उत्कृष्ट आध्यात्मिकता थी यह सिद्ध करने के लिए और सबूतों की जरूरत नहीं है। दु:खी असहाय और तजे हुए हजारों, लाखों और अन्त में करोड़ों लोगों में आत्म तेज-आध्यात्मिक तेज जो जागृत कर सके, उस आत्मवीर महात्मा गांधी में आध्यात्मिकता कितनी थी, उसका माप निकालने को बेरोमीटर लेकर खड़े हुए लोग अपने-आपको हास्यास्पद बनाते हैं, यह बात वे खुद क्यों नहीं समझ सकते?

नामदार गोखले जी कहते थे कि राजद्वारी क्षेत्र में सत्य को अपनाए रखना, अपने तमाम कदम सत्य को वफादार रखना आसान नहीं है, बहुत मुश्किल है और फिर भी उन्होंने उस रास्ते जाने का प्रयत्न किया। नामदार गोखले का राजकारण विनीतों का आसान राजकारण था। जबकि उनके अनुयायी अथवा शिष्योत्तम गांधीजी का राजकारण तेजस्वी सात्विक संघर्ष का था। उसमें भी केवल दस-बीस साथियों को लेकर चलने की बात न थी। लेकिन असम्ख्य बलों के बीच फँसी हुई प्रजा को साथ रखकर उनके नाम से और उनकी मार्फत स्वराज का आन्दोलन चलाना था, और वह स्वराज अन्त में आध्यात्मिक स्वराज्य को बाधक न हो-कमोबेश पोशक ही हो, उस तरह की सावधानी रखनी थी।

इतनी गहरी साधना और कठिन कसौटी को स्वीकार करके गांधीजी ने सत्य-अहिंसा को आंच न आवे, इस तरह राष्ट्रव्यापी प्रवृत्ति चलाकर सारी दुनिया का ध्यान आकर्षित किया और अनेक खण्डों में प्रकट होते रहते विश्व के बलों को आध्यात्मिक प्रवृत्ति की झांकी करवाई, इससे ज्यादा आध्यात्मिक सिद्धि कौन महात्मा ने, संत पुरुष ने या पैगम्बर नबी ने बताई है।

जिन्होंने गांधीजी को नजदीक से देखा है, वे जानते हैं कि बारीक समय में गम्भीर निर्णय करते वक्त गांधीजी साथियों की बैठक में से उठकर एकान्त में जाते थे और वहाँ अन्तर्मुख होकर सर्वोच्च आध्यात्मिक भूमिका पर आरूढ़ होकर चिन्तन चलाते थे। और फिर उन्हें निर्णय पर आने में देर नहीं लगती थी। उतना ही नहीं, लेकिन वह निर्णय आध्यात्मिक दृष्टि से शुद्ध होने से उसे भूत की तरह चिपके रहने में उनको कोई मुश्किल नहीं होती थी। ('भूत की तरह' यह गांधीजी के ही शब्द हैं।)

यह सच है कि आध्यात्मिक साधनों के लिए गांधीजी घंटों तक ध्यान में नहीं बैठते थे। लेकिन उसका कारण यह है कि वे सारा दिन, सारा समय, सतत् आत्मचिन्तन में ही रहते थे। ईश्वरी कर्म ही जिनकी आध्यात्म साधना है, उनके लिए ध्यान के विलासार्थ प्राप्त अथवा स्वीकृत कर्म में से समय अलग निकालना चोरी जैसा ही था। गांधीजी नहाने बैठे हो शौच बैठे हों, अथवा रात को एक दो बजे नींद पूरी हुई तो सब उत्कृट मनन, चिन्तन और ध्यान करते थे। उत्तर रात्रि के एकान्त में अथवा सुबह ब्रह्ममुहूर्त के समय वे माला लेकर भी बैठते थे। जब-जब उनकी संगत सेवा करने का सद्भाग्य मुझे मिला है, तब-तब उनकी माला उनके तकिए के पास रखने के उनके कार्यक्रम का भी मैंने पालन किया है। और अनेक दफा सुबह की प्रार्थना के पहले अथवा उसके बाद गांधीजी अपने ध्यान चिन्तन में से मिली हुई वस्तु की बात विस्तार से कहते थे।

अध्यात्मपरायण जीवन जीने से और उस आदर्श के चरणों में अपना जीवन-अर्पण करने से उनको जो जीवन-दर्शन होता था, अनुभव मिलता था और जीवन रहस्य का साक्षात्कार होता था उनकी बातें उन्होंने नजदीक के लोगों से अनेक दफा की हैं। लेकिन वे भाषा बोलते

थे, सामान्य लोगों की समझ में आ सके वैसी ही। अपना महत्व जताने के लिए उन्होंने कभी भाषा का गौरव नहीं बढ़ाया।

गांधीजी के जीवन में हमने देखा कि दबे हुए और पिछड़े हुए लोगों के सुख दु:ख के साथ वे तदाकार हो जाते थे और फिर भी अपनी साधना भूल जाने जितने वे उसमें बह नहीं जाते थे।

किसी असहाय स्त्री की उलझन दूर करते हों, हरिजनों की आत्मा जागृत करने की कोशिश करते हों, गोरों को उनके कर्तव्य का भान करवाते हों अथवा करोड़ों की लोक संख्या वाले राष्ट्र की रहबरी करते हों, गांधीजी की प्रेम साधना और सत्यनिष्ठा बिल्कुल धुंधली नहीं हुई। जनता ने उनके जीवन का प्रेरक तत्व पहचान कर उनको महात्मा का बिरूद दिया। दक्षिण अफ्रीका के लोग उनको कर्मबीर कहते थे। दोनों की दृष्टि ठीक थी। गांधीजी थे ही एकाग्र साधनानिष्ठ आत्मवीर महात्मा।

जिन्होंने गांधीजी के जीवन का नजदीक से निरीक्षण किया है वे देख सकते थे कि गांधीजी अपनी साधना में बहुत जल्द प्रगति करते थे। 1960 में गांधीजी 1916 के नहीं रहे थे। 42 की साल में वे एक अलग ही महात्मा बन गए थे। गांधीजी ने अपनी अन्तिम साधना रविबाबू के पूर्व बंगाल में नोआखली में की और सब तरह से मुक्त होने के बाद ही उन्होंने अपने शरीर की अन्तिम आहुति दी।

रबीन्द्रनाथ और गांधीजी दोनों भारत के इस युग की अध्यात्म-साधना के अलग-अलग प्रतिनिधि हैं। आज के युग पर उनका असर कायम रहने वाला है। हो सकता है हिन्दुस्तान के बाहर लोग रबीन्द्रनाथ को समझने के बाद ही गांधीजी को समझें अथवा इससे उलटा भी हो। गांधीजी की अहिंसक प्रतिकार की युग साधना का अनुभव पाने के बाद ही शायद दुनिया भारतीय संस्कृति की आत्म परायण तेजस्विता समझे।

गांधीजी के लेख पढ़ते समय इतना ध्यान में रखना चाहिए कि जिन बातों का साक्षात्कार हुआ हो, उन्हीं बातों को ही वे लोगों की भाषा में पेश करते थे। अनुभव के बिना न लिखने की आध्यात्मिक मर्यादा को उन्होंने स्वीकार किया था।

शान्ति निकेतन के और विश्व भारती के गुरुदेव और सत्याग्रह आश्रम के तथा सर्वोदय समाज के महात्मा-इन दो विभूतियों के द्वारा साधना-रत भारतमाता दुनिया के समक्ष आज खड़ी है।

गुरुदेव और बापू

–विष्णु प्रभाकर

गुरुदेव और बापू दोनों का लक्ष्य एक ही था, परन्तु मार्ग उनके भिन्न-भिन्न थे। इस भिन्नता को समझने के लिए एक उदाहरण देना पर्याप्त होगा। उस बार गांधीजी को शान्तिनिकेतन जाना था। गुरुदेव ने उनके स्वागत के लिए जोरदार तैयारी की। उनके ठहरने के कमरे को बड़े कलात्मक ढंग से सजाया, ऐसा कि उसका सौंदर्य, देखने वाले को मन्त्रमुग्ध कर देता था।

गांधीजी आये। साथ में खादी प्रतिष्ठान के सतीश बाबू आदि और भी साथी थे। सभी का स्वागत प्राचीन वैदिक पद्धति से किया गया। गुरुदेव ने स्वयं अपने हाथ से गांधीजी के भाल पर चन्दन और कुमकुम का टीका लगाया और फिर ले चले सबको उनके आवास स्थल की ओर। गांधीजी ने अपने कमरे की सजावट पर एक दृष्टि डाली और बड़े जोर से हँस पड़े। बोले, ''यह सब क्या है? आखिर मुझे इस सुहाग कमरे में क्यों लाया गया?''

गुरुदेव भी कम विनोदप्रिय नहीं थे। कहा,'' आप यह न भूलें कि यह एक कवि का आवास है।''

गांधीजी ने पूछा, ''अच्छा, तो फिर वधू कहाँ है?''

कवि बोले, ''हमारे हृदयों की चिरयुवति रानी शान्तिनिकेतन आपका स्वागत करती है।''

गांधीजी ने कहा, ''सच मानो, वह इस खोखले मुँह के बूढ़े भिखारी को मुश्किल से ही दूसरी बार आँख उठाकर देखेगी।''

गुरुदेव बोले, ''नहीं, सो नहीं होगा। हमारी रानी ने सदा सत्य को पार किया है और इस लम्बी अवधि में उसी की पूजा की है।''

गांधीजी हँसे, ''तब तो इस खोखले मुँह के बूढ़े आदमी के लिए भी यहाँ कुछ आशा है।''

दूसरा दिन आया। गुरुदेव मेहमानों की सुख-सुविधा की देखभाल के लिए मेहमानघर पहुँचे। देखते हैं, सब लोग कभी के उठकर अपने-अपने काम में लग चुके हैं, प्रार्थना हो

चुकी है। सतीश बाबू लड़के-लड़कियों की एक टोली को हाथ के पींजन से कपास धुनना सीखा रहे हैं। पींजन का स्वर जैसे संगीत का स्वर हो। गुरुदेव को यह स्वर बहुत प्यारा लगा।

वहाँ से पहुँचे वे गांधीजी के कमरे में। चकित रह गए। कमरे का सारा शृंगार उतार दिया गया था। गांधीजी का पलंग खुली छत पर पड़ा हुआ था। चारों और फाइलें थी, चरखे थे। विनोदप्रिय गुरुदेव बोले, ''हरे राम, हरे राम। भला इस सुहाग के कमरे का क्या हुआ? देखता हूं कि दुलहिन जहाँ की तहाँ है, पर क्या दूल्हा भाग गया है?''

गांधीजी भी जोर से हँस पड़े। उत्तर दिया, ''मैं तो पहले ही चेतावनी दे चुका था कि दुलहिन बिना दाँत के बूढ़े आदमी को गाँठने वाली नहीं है।

इस विनोदप्रिय घटना के पीछे इन दोनों के सम्पर्क में रहने वाले स्वर्गीय गुरुदयाल मलिक के इन शब्दों में व्यक्त किया जा सकता है, ''गांधीजी की दृष्टि में यह जगत प्रभु का एक कार्यालय था। गुरुदेव की दृष्टि में यह जगत भगवान का एक बगिया था, परन्तु दोनों ने अविरल कार्य में अपना जीवन बिताया। एक का काम था आनन्दमय करना और दूसरे का काम था आनन्द उत्पन्न करना।

'एक ने यह माना कि जीवन संगमरमर का एक ढेर है, पर दूसरे ने यह माना कि जीवन प्रेम का अभिसार है। इसलिए गांधीजी ने उस अनगढ़ ढेर में से मूर्तिकार के समान मूर्ति गढ़ी, दूसरे ने फूल बीने, और अपनी प्रिया की वेणी का श्रृंगार किया। पर दोनों ने जीवन को स्वीकार किया। एक ने सेवक के रूप में, और दूसरे ने संगीतकार के रूप में। एक ने दासी के रूप में और दूसरे ने कुमारी के रूप में।'

गांधीजी कर्मयोगी थे, गुरुदेव कवि थे। गांधीजी ने कहा, ''दर्द मनुष्य को पवित्र करता है। बिना दर्द से पवित्र हुए किसी देश का उत्थान नहीं हुआ। जननी इसलिए दर्द सहती है कि उसके बच्चे जीवित रह सकें।... मैंने सदा एक ऊँचा शूद्र-मानवता का सेवक-बनने की आकांक्षा की है।'

कवि ने कहा है,'' मुझे यह तारों से भरा-पूरा अन्धकार बहुत अच्छा लगता है। जब दुनिया के झगड़े-रगड़े मिट जाएँगे, तब भी इन तारों की सत्य-साक्ष हमेशा की तरह वैसी रहेगी जैसी कि हजारों वर्षों से रहती आई है। वे तो हमेशा, शान्त शिव अद्वैत का गीत गाते रहते हैं।'

कवि ने जो कुछ कहा, वह प्रेम की व्याख्या है। गांधीजी ने जो कुछ चाहा, वह भी प्रेम ही है। प्रेम के अभाव में काव्य जन्म नहीं लेता है। प्रेम न हो तो कोई सेवा कैसे करेगा? अहिंसा प्रेम ही तो है और ईश्वर-वह सत्य भी है, सर्वोत्तम सौंदर्य भी है और सर्वोच्च प्रेम भी और सबसे गहरा दर्द भी। दर्द न हो तो न कोई कवि हो सकता है, न कर्मयोगी। दोनों के विचारों की मूल आत्मा को समझें तो वहाँ यही दर्द कुंडली मारे बैठा है। तभी तो दोनों

जीवन भर कोलाहल में संगीत पैदा करते रहे। जड़ को चेतन करना, संघर्ष में से सहयोग जुटाना, बुराई में से भलाई उपजाना भी तो कोलाहल में संगीत पैदा करना है।

फिर भी उनके जीवन में ऐसे अवसर आए, जब दोनों के चिन्तन की धारा दो विपरित दिशाओं में बहती दिखाई दी। सन 1934 के बिहार भूकम्प को गांधीजी ने हमारे पापों का दण्ड घोषित किया था, तब कवि ने जोरदार शब्दों में इस अन्धविश्वास का प्रतिवाद किया। उससे भी बहुत पहले सन् 1921 में कवि ने गांधीजी के असहयोग के सिद्धान्त को खण्डन और निराशा का सिद्धान्त कहकर उसका विरोध किया था। तब बड़े जोरदार शब्दों में गांधीजी ने इसका प्रतिवाद करते हुए कहा था, ''हम लोगों ने 'नहीं' कहने की शक्ति बिल्कुल गँवा दी है। सरकार के किसी काम में 'नहीं' निराई करना बहुत जरूरी है, उसी तरह से सहयोग करने के पहले जान-बूझकर, पक्के इरादे के साथ, असहयोग करना हम लोगों ने जरूरी समझा है।'

कवि का चरखे में भी वैसा विश्वास नहीं था। तब गांधीजी ने कहा था,'' मैं यह नहीं चाहता कि कवि अपना संगीत छोड़ दें, किसान अपना हल, वकील, अपने मुकदमे और डॉक्टर अपना शल्य-शालक्य। मैं तो उनसे सिर्फ तीस मिनिट रोज कातने का त्याग चाहता हूँ। मैंने भूखे मर रहे बेकार स्त्री-पुरुषों को गुजारे के लिए और अधपेट रहने वाले किसानों को अपनी आमदनी बढ़ाने के लिए चरखा कातने की सलाह जरूर दी है।''

उन्होंने कवि को लिखे एक पत्र में जैसे अपनी आत्मा उंडेल दी है, जैसे वे भी कवि हो उठे हैं। उन्होंने लिखा, ''अपने काव्य के प्रति सच्चा रहकर यदि कवि आगामी कल के जिन्दा रहता है और दूसरों को भी उस कल के लिए जीवित रहने का आदेश देता है। वह हमारे चकित चक्षुओं के सामने उन सुन्दर चिड़ियों के सुन्दर चित्र खींचता है, जो उषा के आगमन पर महिमा के गीत गाती हुई शून्य में अपने रंगीन पंखों से उड़ान भरती हैं। ये चिड़िया दिन भर का अपना भोजन प्राप्त करती हैं, और रात के आराम के बाद आकाश में उड़ती हैं। उनकी रगों में पिछली रात नए रक्त का संचार हो चुका है, पर मुझे ऐसे पक्षियों को देखने से वेदना भी हुई है, जो निर्बलता के कारण अपने पंख फड़फड़ाने का साहस भी नहीं कर सकते। भारत के विस्तृत आकाश के नीचे मानव पक्षी रात को सोने का ढोंग करता है। भूखे पेट उसे नींद नहीं आती और जब वह सुबह बिस्तर से उठता है, तो उसकी शक्ति पिछली रात से कम हो जाती है। लाखों मानव-पक्षियों को रात-भर भूख-प्यास से पीड़ित रहकर जागरण करना पड़ता है अथवा जाग्रत स्वप्नों में उलझे रहना पड़ता है। यह अपने अनुभव की, अपनी समझ की, अपनी आँखों देखी अकथ दु:खपूर्ण अवस्था और कहानी है। कबीर के गीतों से इस पीड़ित मानवता को सांत्वना दे सकना अंसभव है। यह लक्षावधि भूखी मानवता, हाथ फैलाकर, जीवन के पंख फड़फड़ाकर, कराहकर, केवल एक कविता मांगती है, ''पौष्टिक भोजन।''

इसलिए कवि ने दो शब्दों में उनके लिए कहा था, 'वह विचारों से नहीं, मनुष्यों से प्रेम करते हैं।'

मतभेद एक दूसरे को समझने में रूकावट नहीं होते। दोनों ने एक-दूसरे को अच्छी तरह पहचान लिया था। तब की बात है, जब गुरुदेव शान्तिनिकेतन के लिए धनसंग्रह करने निकले थे। वह बहुत वृद्ध हो चुके थे, फिर भी स्वयं मंच पर आते थे। गांधीजी को यह सब अच्छा न लगा। क्या यह हमारे लिए लज्जा की बात नहीं है— वे बार-बार सोचते। उनसे रहा नहीं गया। उन्होंने महादेव देसाई को बुलाया। कहा, ''महादेव! तुम्हें पता है कि गुरुदेव दिल्ली आए हुए हैं। वह अपनी संस्था के लिए धन संग्रह करना चाहते हैं। इसके लिए वह देश भर में नाटक खेलेंगे।''

महादेव देसाई ने उत्तर दिया, ''हाँ बापू, मुझे मालूम है।''

एक क्षण बाद महादेव देसाई ने फिर कहा, ''आपको याद है बापू कि दक्षिण अफ्रीका से लौटकर जब आप गुजरात में आश्रम स्थापित करना चाहते थे, तब पूना में गोखले ने अपने सहायक को बुलाकर कहा था कि आपको जितने रुपयों की जरूरत पड़े, वह देता जाए। कितने उदार थे गोखले।''

गांधीजी तुरन्त बोल उठे, ''तुमने ठीक याद दिलाया। अच्छा, तुम अभी गुरुदेव के पास चले जाओ और उनसे पूछो कि उन्हें कितने रुपयों की आवश्यकता है। उसके बाद तुम श्री अमुक के पास चले जाना। मैं पत्र लिख दूंगा। वह गुरुदेव के लिए उतना रुपया गुप्तदान के रूप में दे देंगे।''

और गुरुदेव को जितना चाहिए था, उतना रुपया मिल गया। वह शान्तिनिकेतन लौट गए।

यह सब इसलिए सम्भव हुआ कि गांधीजी गुरुदेव को सचमुच पहचानते थे। उनके मानव प्रेम को उन्होंने प्रत्यक्ष देखा था तभी वे लिख सके थे, ''गुरुदेव ने जो रोशनी फैलाई, वह आत्मा के लिए थी। सूरज की रोशनी जैसे हमारे शरीर को फायदा पहुँचाती है, वैसे ही गुरुदेव की फैलाई रोशनी ने हमारी आत्मा को ऊपर उठाया है। वह एक कवि थे। यही क्यों, वह एक ऋषि थे। उन्होंने कवि के नाते ही नहीं ऋषि की हैसियत से भी लिखा है। वह एक कलाकार थे, एक नृत्यकार थे, एक गायक थे। बढ़िया से बढ़िया कला में जो मिठास और पवित्रता होनी चाहिए, सब उनमें और उनकी चीजों में थी। नई-नई चीजें पैदा करने की उनकी ताकत ने हमको शान्तिनिकेतन, श्री निकेतन और विश्व भारती जैसी संस्थाएँ दी हैं। उनके रचे कौमी गीत को आप सुन चुके हैं। हमारे देश के जीवन में इस गीत की एक जगह बन गई है। यह सिर्फ गीत ही नहीं है, बल्कि भक्ति भाव से भरा भजन भी है।

गांधीजी गुरुदेव की प्रतिभा का सम्मान करने से कभी नहीं चूके और गुरुदेव तो उस समय जब गांधीजी ने साम्प्रदायिक निर्णय को लेकर आमरण अनशन करने का निश्चय

किया तो भाव-विभोर होकर पुकार उठे थे, ''मैं इस जन्म में भी और उस जन्म में भी उनका अनुसरण करूँगा।'' उन्होंने काले वस्त्र पहनकर शान्तिनिकेतन की एक सभा में उपवास के महत्व पर प्रकाश डाला और श्रोताओं को कमर कसकर अस्पृश्यता निवारण के काम में जुट जाने को उद्‌बोधित किया। उपवास शुरू करने से पूर्व गांधीजी ने गुरुदेव को लिखा था, ''.... यदि आपकी अन्तरात्मा मेरे कार्य की निन्दा करे, तो भी आपकी आलोचना को बहुमूल्य समझूंगा। आपका हृदय यदि मेरे कार्य को पसन्द करे, तो मैं आपका आशीर्वाद चाहता हूँ। उससे मुझे सहारा मिलेगा।''

पर गुरुदेव तो पत्र मिलने से पहले ही तार दे चुके थे, ''भारत की एकता और सामाजिक अविच्छिन्नता के लिए बहुमूल्य जीवन का दान श्रेयस्कर है। हम लोग ऐसे हृदयहीन नहीं है कि इस राष्ट्रीय वज्रपात को चरम सीमा तक पहुँचने दें। हमारे व्यथित हृदय आपकी लोकोत्तर तपस्या को श्रद्धा और प्रेम से निहारते रहेंगे।''

उन्होंने मृत्युंजय शीर्षक से एक लम्बी कविता लिखी है। उसमें वे जैसे भविष्यवाणी कर जाते हैं गांधीजी के बलिदान की और उनके संदेश के पुनर्जीवित होने की।

'मृत्युंजय' को उनके अधीर शंकालु साथी ही समाप्त कर देते हैं, और फिर रोते हैं-

रो पड़ी औरतें दहाड़ मार, दल पुरुषों के हो गए दीन।
कुछ ने चुपचाप चले जाने की कोशिश की, गति मिली नहीं,
उनको शहीद से बाँध रही थीं, जो कड़ियाँ वे हिली नहीं।

आपस में पूछ रहे हैं अब 'पथ हमको कौन दिखाएगा?''
बोला पूरब का वृद्ध जिसे मारा है वहीं दिखाएगा।
सब मौन और नतशिर, बूढ़े ने फिर से कहा-जिसे हमने
संयमवश त्यागा और क्रोधवश हत्या की यदि आज उसे,
हम करें प्रेम से ग्रहण, न क्यों वह महाप्राण
हम सबके जीवन में होगा संजीवित, वह है मृत्युंजय।
सब खड़े हो गए, कण्ठ मिलाकर गाया-जय जय मृत्युंजय।

यह कविता किसी टिप्पणी की अपेक्षा नहीं करती। वस्तुतः गुरुदेव और बापू के संबन्ध किसी भी टिप्पणी की अपेक्षा नहीं करते। समझ और स्नेह से पूर्ण वे संबन्ध इस बात को प्रमाणित करते हैं कि दोनों मनुष्य जाति के प्रति प्रगाढ़ प्रेम से प्रतिबद्ध थे। एक ने उसके दुखी दिल को दिलासा दिया तो दूसरे ने उसे आत्मा का आनन्द।

एक बार फिर श्री गुरुदयाल मलिक के शब्दों में कहें, ''गांधीजी मानते हैं कि व्यक्तिगत समस्या, जगत की समस्या है, गुरुदेव मानते थे कि जगत की जो समस्या है, वही व्यक्तिगत समस्या है, पर दोनों जानते थे कि जीवन एक सीधी लकीर नहीं है, एक वर्तुल है।''

यह जानना ही सत्य है। शेष सब ऊहापोह है, क्योंकि संगीत का आनन्द और किसी वस्तु के निर्माण का आनन्द एक ही है। कल्पना और कर्म, स्वप्न और सत्य, मनुष्य के विकास की पूर्णता के लिए दोनों ही अनिवार्य है। इसलिए ईश्वर को सत्य ही नहीं सौंदर्य और प्रेम के रूप में भी पहचाना जाता है। इसलिए कवि ने स्वयं एक दिन कहा था, ''शान्तिनिकेतन आनन्दमय सत्य का प्रतीक है, साबरमती तपोमय सत्य का।''

अर्थात् गुरुदेव सत्य को आनन्द के माध्यम से प्राप्त करते थे और बापूजी तप के द्वारा। अन्तर साधन का था, साध्य का नहीं।

शिक्षा

–रबीन्द्रनाथ टैगोर

ब्रिटिशकालीन भारत में सर्जनात्मक शैक्षिक दर्शन स्वभावत: गैर-सरकारी सूत्रों का दाय था। स्वामी विवेकानन्द, रबीन्द्रनाथ टैगोर, श्रीअरविन्द और महात्मा गांधी - एक तरह से सभी बाहर के थे। उनके चिंतन और कृतित्व का तुलनात्मक अध्ययन अपने-आप में एक बड़ी शिक्षा ही थी। घर की स्मृति से विछल रहते थे रबीन्द्रनाथ। आजीवन जड़ों तक लौटकर अपनी शाखाएँ उपर और चारों तरफ फैलाने की बात उन्होंने की। उनके पत्र, आलेख और व्याख्यान देश-विदेश में उनके मन की यह तीव्र आकांक्षा स्फुटित करते रहे। उनके चिन्तन का सामान्य सारांश भी पूर्णताकामी शिक्षा के उनके आदर्श को प्रतिबिंबित करता है।

रबीन्द्रनाथ के शिक्षा-सम्बन्धी विचार उनकी किशोरावस्था में ही पल्लवित-पुष्पित होने लगे थे। 1877 में माइकेल मधुसूदन दत्त के महाकाव्य की समीक्षा करते हुए उन्होंने शिक्षा-नीति पर भी ऊँगली उठायी थी कि खाक डालने योग्य है ऐसी शिक्षा-नीति, जो न रुचि को परिमार्जित करती है, और न स्वतंत्र चिन्तन ही विकसित करती है। सांस्कृतिक जड़ों से विच्छिन करने वाली इस शिक्षा-नीति का मूलभूत दोष रबीन्द्रनाथ यह मानते थे कि यह बालकों तक नीरस ढंग से घोर उपयोगितावादी दर्शन पहुँचा देने की व्यवस्था-भर करती है 'शिक्षार हेर-फेर' 1892 में विदेशी माध्यम की शिक्षा से भी उनका स्पष्ट विरोध था। भगिनी निवेदिता की तरह वे भी यह मानते थे कि भारत में शिक्षा के नाम पर जड़ों से काट देने का षड्यन्त्र चलता है। ऐसा नहीं कि किसी स्तर पर, विशेषत: विज्ञान के अध्ययन के लिए, विदेशी भाषा सीखने से इनका विरोध था, पर 1901 में जब शान्तिनिकेतन की शुरुआत हुई तो पुनरुद्धारवाद के प्रभाव से ये मुद्दे न थे, जात्रा, कथाकथन, लोक-नाट, श्रुति-संस्थान आदि के द्वारा उन्होंने उसे आश्रमों जैसा वातावरण दिया, जो हिन्दू-रिवाजों की शक्ल लिए हुए था। शिक्षा की अनौपचारिक विधियाँ रटन्त विद्या नहीं-विद्या वह है जो मनुष्य की कारयित्री उर्जा जगाए। इस सन्दर्भ में अपनी जड़ों के पुनरुद्धार में वे आइरिशों के महत्वपूर्ण योगदान की चर्चा करते थे। सामान्य स्कूल विद्यालय नहीं, कारखाने हैं, ऐसा उनका मानना था। हालाँकि लैटिन और ग्रीक का मार्जन होता रहा, पर पढ़ाई के माध्यम के रूप में आइरिश

बरकरार रही, यह इससे विकास का कारण भी था। जातीय विद्यालय पर लिखते हुए उन्होंने बताया कि अंग्रेजी भाषा के बन्धनों से मुक्त होकर हम कम-से-कम आजाद होने के लिए तो आजाद हो गए हैं और दुनिया के यथार्थ को अपने ढंग से देखने के योग्य। (जातीय विद्यालय, 1906)

ग्रामीण परिवेश ही रबीन्द्रनाथ का आदर्श था और वे कहते थे कि पुरानी भारतीय संस्कृति का पालना शहर नहीं, गाँव थे। थोड़े दिनों बाद उन्होंने तपोवन का आदर्श पल्लवित किया। उनका मानना था कि विश्व-प्रेम की उदात्तता वैसे ही वातावरण में पैदा हो सकती है, पर विश्व के एकात्म होने का अर्थ विविधता मिटा देना या अपनी पहचान को देना नहीं है।

भारतीय सभ्यता आदिम नहीं थी, गहरी थी क्योंकि इसमें आन्तरिकता थी। इस तर्क के समर्थन में वे संस्कृत नाटक और कविता के अलावा धूसर उपनिषदों के भी उद्धरण देते हैं। आश्रम तब शान्ति के मधुर संगीत में 'आवृत' था जो रबीन्द्रनाथ के चित्त को बहुत प्रिय थी, हालाँकि खुद वे, एक दूसरी सतह पर, हमेशा बेचैन रहते थे। रबीन्द्रनाथ के अनुसार, जीवन और शिक्षा का उद्देश्य एक-दूसरे पर हावी हो जाना नहीं है, एक-दूसरे के साथ सामंजस्य की स्थापना है। भारतीय अस्मिता और इतिहास के प्रति निष्ठावान होने का अर्थ कट्टरपंथी होना भी नहीं है। अग्रघर्षण भारतीय संस्कृति की भाषा में कभी नहीं समाया। न आक्रामकता, न ही संकीर्णता का प्रचार रबीन्द्रनाथ करते हैं, हमेशा की तरह पूर्णता, मुक्ति और विश्वबंधुत्व उनकी मुख्य तलाश रही है। भविष्य के प्रति उनकी आस्था अगाध थी। अब एक संस्था, कोई संस्था, किस हद तक ये आदर्श पूरे कर सकती है, यह एक अलग बात हुई।

हिन्दू विश्वविद्यालय वाले अपने भाषण (1910) में रबीन्द्रनाथ ने बिना संकीर्ण दायरों में बंधे अपनी राष्ट्रीय अस्मिता टटोलने की आवश्यकता पर बल दिया। एकता को मन देने का सही तरीका है कि जहाँ अलगाव है, वहाँ अलगाव इंगित कर दीजिए। इसी को इवान इलि ने बाद में यों कहा कि एकता बाँटती है। रबीन्द्रनाथ के शब्दों में, ''आज समस्या विभेद मिटा देना नहीं, विभेद बरकरार रखते हुए एकता स्थापित करना है जो सचमुच कठिन है'' प्रत्येक प्राप्य ज्ञान इतना पल्लवित-पुष्पित हो रहा है, पर हमारी शैक्षिक नीतियाँ हर उस ज्ञानक्षेत्र की तलाश में है जिस पर देशी मुहर न हो। पर इसका जवाब क्षुद्र, संकीर्ण मनोवृत्ति नहीं। एक बौद्धिक वैज्ञानिक, ऐतिहासिक दृष्टिकोण अनिवार्य है। अपने उत्कर्ष काल में हिन्दू समाज किसी तरह की संकीर्ण रूढ़ियों और संस्थाओं के आबद्ध नहीं था। हिन्दुत्व विराट है, कई तरह की अनर्धाराएँ इसमें समविष्ट हैं। रबीन्द्रनाथ ने कहा ''हम हिन्दुत्व को नष्ट नहीं करना चाहते, उसका दायरा बढ़ाना चाहते है'' हमारी नवीनीकृत ऊर्जा हमें विवश करती है कि हम विश्वव्यापी सहायता और अन्तराष्ट्रीय दायित्व स्वीकार करें: मानवता के देवपुरुष की रथ-यात्रा का समय आ गया है। यह सम्बोधन उनके पूर्ववर्ती विचारों के निकट था, पर समय के साथ इसमें परिवर्तन आया और फिर हिन्दुत्व से ज्यादा मानव-धर्म इनके प्रवचनों में छाने लगा।

1912 में 'धार्मिक शिक्षा' पर लिखते हुए उन्होंने बताया कि इसे पाने का सबसे अच्छा तरीका जीवन और संवेदनाओं को एकाकार करना है, किसी पुनीत हठधर्मिता से कहीं अधिक यही कारगर होगा। नागर समाज के गोद-लिए बच्चों से ज्यादा भारत और माँ प्रकृति के चिस्थायी सत्यों में रबीन्द्रनाथ की आस्था थे। और पाने विद्यालय के लिए उन्होंने एक शिक्षक को आश्वस्त किया कि उनके छात्र प्रकृति की क्रोड़ में आनन्द-योग भोगते हैं। उनके लिए और उनके छात्रों के लिए यही धर्म है। जहाँ तक शिक्षा की प्रचलित नीतियों का प्रश्न है, स्कूल के शिक्षक बच्चों पर एक पाठ्क्रम थोप सकते हैं, वे उनकी आत्मा का आयतन नहीं बढ़ा सकते। कोई कविराज अपनी टिकियों से हमें बचा नहीं सकता? हमें क्या चाहिए और कैसे- इस बारे में हमें बिल्कुल साफ होना चाहिए। 'जानने' से अधिक 'होने' की आवश्यकता हमें है। पुराने समय में पराविद्या मार्ग और ध्येय के पूर्ण और सामंजस्यपूर्ण विलय का आश्वासन देती थी। मनुष्य और समाज और सभ्यता के नियमों का एक एकीकृत सिद्धान्त था। 1913 के अपने एक पत्र में उन्होंने दोहराया- मशीन जीवन की सृष्टि नहीं कर सकती। जाग्रत अध्येता के प्रति सम्मान की अपेक्षा करता है। बच्चों के व्यक्तित्व के प्रति हमारे मन में सम्मान होना चाहिए - एक शिक्षक को उन्होंने लिखा था। रबीन्द्रनाथ को बच्चों पर इतना भरोसा था कि एक समय उन्होंने यह भी सलाह रखी कि प्रशासन की आंशिक जिम्मेदारी तो बच्चों के हाथों में छोड़नी ही चाहिए। यह सलाह अपने समय से बहुत आगे की थी। दूरवर्ती इलिनाँयस से उन्होंने इस बात पर प्रसन्नता जाहिर की कि यहाँ बच्चों के पास साग-सब्जियों का अपना एक बगीचा है।

विपन्न-विरत लोगों का पक्षधर होने के नाते स्त्रियों की शिक्षा का समर्थन रबीन्द्रनाथ ने हमेशा किया, हालाँकि खुद अपनी बेटियों को वे स्कूल नहीं भेज पाए। पर यह एक ऐसा कार्य था जो स्त्रियों को खुद करना था - बिना यह सोचे कि लोग इस स्वतन्त्रता का क्या अर्थ लेते है। स्त्रियों की शिक्षा पुरुषों से थोड़ी भिन्न अवश्य होगी और खास तरह के हुनर सिखाएगी। हम सरकार से सहायता की अपील हमेशा करते हैं, और खुद इस दिशा में कोई दिलचस्पी नहीं लेते और शहरों को अस्तित्व का केंद्र और मूल्यों का स्रोत समझते है। शिक्षा का माध्यम अंग्रेजी होने के कारण छात्रों की स्थिति 'इम्तिहान का दंगल' जितने वाले पहलवानों की-सी हो गयी है। और इसीलिए, ऊँची शिक्षा के बावजूद हम स्वतन्त्र विचारों से विरत है।

थोड़े दिनों बाद उन्होंने एक मजेदार किन्तु भयावह नहीं, कथा भारत की शिक्षा-व्यवस्था पर लिखी। इसका नाम था 'तोते का प्रशिक्षण'। लम्बे त्रासद प्रशिक्षण के बाद पिंजड़े में तोता मर जाता है:

किसी को जरा भी यह आभास नहीं कि यह कैसे हुआ और सबसे पहले यह समाचार फैलाने वाला उसका आदि-निन्दक ही है - राजा का भतीजा। राजा ने भतीजे को बुलाया-

प्रिय भातृज, यह मैं क्या सुन रहा हूँ?' भतीजे ने जवाब दिया, 'महोदय चिड़िया की शिक्षा सम्पन्न हुई!' 'क्या वह फुदकती है?' राजा ने पूछा।

'बिल्कुल नहीं!' भतीजे ने गौरवान्वित होकर उत्तर दिया।

'क्या वह उड़ती है?' राजा ने पूछा

'नहीं तो!'

चिड़िया को यहाँ ले आओ ।' राजा ने आज्ञा दी।

पुलिस के प्रधान और अन्य गण-मुनियों के साथ चिड़िया राजा के सामने लायी गयी। अपने हाथों से उन्होंने उसका शिथिल शरीर छुआ। कोई आवाज नहीं आयी- सिवा उन पाठ्य पुस्तकों के पन्ने फड़फड़ाने की आवाज के जिनसे उसका भेजा भरा गया था।

उस साल बैसाख में व्यर्थ ही नये किसलय आये, दक्षिण से अकांक्षा - समीर उठा, जंगल के सुरक्षित आकाश पर लहराया, पर व्यर्थ ही ।'

यह एक प्रतिनिधि, किन्तु भयावह अभ्यारोपण था। हम रो नहीं सकते, इसलिए 'फॉरेन' मुस्कान चिपका लेते हैं! व्यक्तिहीन कुंदों का उद्घाटन करने वाली औपनिवेशिक शिक्षा-नीति पर इससे करारा व्यंग्य शायद ही हुआ हो। रबीन्द्रनाथ अंग्रेजी सिखने के खिलाफ थे, ऐसा भी नहीं है। उनका मंतव्य सिर्फ इतना था कि मातृभाषा पहले आनी चाहिए।

पर उनके विचार सतत् विकासमान थे - बाल-विद्यालय और मातृभाषा संवरण के पार भी उनके सपने जाते थे। भारतीय संस्कृति केंद्र और प्राचार्य विश्वविद्यालय की भी उनकी योजनाएँ थीं, जहाँ सभी विचारक और विद्वान एकत्र हों, पश्चिम भी आ मिले और नये मूल्य निर्मित हों। ऐसी शिक्षा को संकीर्ण चारदीवारियों या व्यवसायधर्मिता से जोड़कर नहीं देखा जा सकता जो लिपिक, चिकित्सक, वकील और अभियन्ता का निरपेक्ष उत्पादन किए जाए। रबीन्द्रनाथ का मानववाद पूर्ण मानव के आदर्श पर आधारित था। हमारे विश्वविद्यालयों की जड़ें हमारी मिट्टी में नहीं और अधिकांशत: ये उन परावलम्बी ताकतों द्वारा गढ़े हुए हैं जो अपने को सम्भ्रान्त कहती है। सच्ची शिक्षा का सम्बन्ध लोगों की समस्याओं से होता है और राष्ट्रीय पर्यावरण से। इस शब्द के चलन के पहले से रबीन्द्रनाथ 'परिस्थितिकी' थे। उनके खुबसूरत पद्विन्यासों में एक है विश्वभारती - अन्तराष्ट्रीय बौद्धिक संगठन, जो हर तरह की पूर्णता का आकांक्षी था।

भारत में अंग्रेजी शिक्षा के खोखलेपन की एक सच्ची, हृदयविदारक कहानी रबीन्द्रनाथ सुनाते थे। इलाहाबाद का एक तेजस्वी छात्र नदी की परिभाषा जानता था, पर जब उसे किसी नदी का नाम बताने को कहा गया, तो वह लड़खड़ा गया 'हालाँकि गंगा इलाहबाद होकर ही तो बहती है' यही है तोता-रटंत। भारत में वैदिक, बौद्ध, जैन और पौराणिक परम्पराएँ एक साथ विराजमान हैं, और इन्हें साथ-साथ पढ़ना भी चाहिए। यूरोप को दुनिया का गुरु बनाने में यूरोप की तीव्र अकांक्षा और साहसिक वृत्ति का बड़ा हाथ था, सिलहट में अपने छात्रों से

उन्होंने कहा कि फाँकीबाजी की महान वृत्ति उत्कृष्टता की हमारी सम्भावनाओं को पूरी तरह ध्वस्त कर डालती है। हम बहुत थोड़े-से सन्तुष्ट हो जाते हैं। हमारी दरिद्रता के मूल में हमारी आत्मिक दरिद्रता है ? सत्य से निर्वाह के हमारे तरीके मिथ्यापूर्ण हैं। 1926 में शान्तिनिकेतन कलकत्ता विश्वविद्यालय के अधीन आ गया। इस समझौते पर प्रतिक्रिया व्यक्त करते हुए रबीन्द्रनाथ ने कहा कि इससे शान्तिनिकेतन की नींव कमजोर हुई है। 'उसके बाद 1951 में शान्तिनिकेतन के विश्वभारती के रूप में राष्ट्रीय विश्वविद्यालय बनने पर क्या हुआ, इसकी अलग कहानी है।'

1921 में विश्वभारती का विधिवत् उद्घाटन हुआ। उसके छोटे-से, पर स्मरणीय स्मृति लेख में एक अद्भुत आदर्श समाहित था- 'विभिन्न दृष्टिकोणों से सत्य के विभिन्न पक्षों को आत्मसात किए मानव-मन के अध्ययन हेतु।' ये शब्द उनके हों या नहीं, पर उनकी गहनतम महत्वकांक्षाओं का प्रतिबिम्ब अवश्य हैं।

अपने मानस-पुत्र के लिए रबीन्द्रनाथ का यह प्रेम कभी कम नहीं हुआ। उन्हें यह कहते देख किसी को आश्चर्य नहीं होना चाहिए कि- 'विश्वभारती भारतवर्ष के सर्वतोन्मुखी बौद्धिक भण्डार का प्रतिनिधि है और उसके इस संकल्प का कि औरों को अपनी संस्कृति के बेहतरीन पक्ष का सार देश और दूसरों से उनका सर्वोत्तम ग्रहण करेगा।'

समस्त आदर्शानुराग के बावजूद कवि तो कवि थे और कुछ अव्यावहारिकता भी उनमें थी। 1925 के यूरोप यात्रा के दौरान उन्होंने जहाज पर लिखा - 'मेरे मत में शिक्षा-नीति को वैरागी के पथ का अनुसरण करना चाहिए। जीवन-प्रवाह के अनुरूप शिक्षा होनी चाहिए। हमें चाहिए कि अपने छात्रों के साथ हम अज्ञात की तलाश में निकल पड़ें ।' ये काव्यात्मक उद्गार है, किसी संस्था पर उन्हें घटित करना सम्भव नहीं दिखता। कोई भी विद्यालय, चाहे वह उन्हीं का क्यों न हो और कितना भी मुख्य क्यों न हो, एक कवि के आत्मा को बदलते रंगों का अनुसरण नहीं कर सकता ।

1926 में 'कवि का विद्यालय' शीर्षक से एक महत्वपूर्ण मसविदा सामने आया। रबीन्द्रनाथ के आदर्शों का अच्छा सार-संक्षेप यह प्रतुत करता है। रबीन्द्रनाथ लिखते हैं कि लोग कवि से क्षमा-याचना की उम्मीद करते हैं कि उसकी इस कविता का माध्यम शब्द क्यों नहीं। इसके उत्तर में वे अपने बचपन के अनुभव का जिक्र करते हैं। वे कालिदास की भी चर्चा करते हैं, राजदरबार में जिन्हें आश्रम का स्वर्गसुख छिन जाना बहुत खलता होगा। वे स्वीकार करते है कि ऐसे ही आश्रम की कल्पना उनके मन में भी थी। पर उनका आश्रम भौतिक प्रतिबिम्ब न होकर आधुनिक जीवन की मांगों के बीच से गुजरते आश्रम का नया रूप होगा। यह आश्चर्यजनक है (या कि शायद नहीं भी), कि कैसे कलकत्ते की अपनी नागर पृष्ठभूमि के बावजूद आश्रम की पारम्परिक छवि के लिए रबीन्द्रनाथ के मन में इतना आकर्षण था। इसे उन्होंने इस प्रकार व्यक्त किया: ''मैं यह विश्वास किए बिना नहीं रह सकता कि मेरे भारतीय संस्कारों ने मेरे भीतर अपने

दर्शन का दाय छोड़ा है जो वस्तुजगत से सामंजस्य स्थापित करने में अपनी साथर्कता समझता है।'' और वे बच्चों की बातों से बात शुरू करते हैं। बच्चे स्वभावत: प्रकृति के प्रति अनुरक्त होते हैं, 'संवेदनाओं से वन्य और बुद्धि से सभ्य हमें होना चाहिए, प्रकृति के सम्मुख प्राकृतिक, मानवीय जगत् के सम्मुख मानवीय सन्तुलन का सपना इस स्कूल में चरितार्थ होगा', ऐसा वे मानते थे। यह स्कूल 'निर्दोष बच्चों का आदर्श स्वर्ग-लोक नहीं।' लेकिन उन्होंने कोशिश जरूर की कि बच्चों की आत्मा को यहाँ संकीर्ण दायरों से ऊपर उठने का और सम्यक् विकास का उपयुक्त वातावरण अवश्य मिले। यह संकीर्णता ही आज की सर्वाधिक भयानक दृष्टिहीनता है। लगातार यह कहना वे नहीं भूलते कि स्कूल का विकास उनके जीवन का विकास है। यहाँ प्रश्न यह है कि दोनों साथ बढ़ें या एक का विकास दूसरे पर हावी हो गया?

ग्रामीण विकास के इनके उत्साह से जाहिर है कि विपन्नों और दलितों की सुध इन्हें हमेशा बनी रही। अपने पुत्र के नाम एक पत्र में वे बगल के गाँव के संथाल बच्चों की विद्यालय के उत्सवों में भागीदारी की बात कहते हैं। पर यह योजना सफल नहीं हो सकी। ललित कलाओं पर इनका चिन्तन अधिक पल्लवित-पुष्पित हुआ, इन कलाओं को वे व्यक्तित्व की भाषा कहते थे। यदि शान्तिनिकेतन मुख्यत: सौन्दर्यशास्त्रीय मान्यताओं से ही एकाकार हो पाया तो इसके एक नहीं, अनेक कारण है। इस सन्दर्भ में श्री नन्दलाल बोस के अधीन चल रहे 'कला भवन' का भी बहुत महत्व है।

1930 में रबीन्द्रनाथ रूस गये। रामानन्द चटर्जी के नाम एक पत्र में उन्होंने लिखा- 'रूस जाने के पीछे मेरा सिर्फ एक उद्देश्य है - अपनी आँखों से शिक्षा का प्रचार-प्रसार और उसके प्रभाव देखना' रूसी लोगों को एक भाषण में उन्होंने बताया कि रूसी शिक्षा व्यवस्था कि बहुत-सी बातें उनके अपने विद्यालय से मिलती है। यह एक विवादास्पद बात है। यहाँ सम्भवत: वे लोकशिक्षा और 'सर्वकर्मेर योग' 'जहाँ हर व्यक्ति विभिन्न गतिविधियों में हिस्सा ले सकता है' के अपने आदर्शों की और इशारा कर रहे थे।

1933 में कलकत्ता और कोलम्बो विश्वविद्यालय के इनके व्याख्यानों से भी इनके मौलिक तत्वों की पृष्टि हुई। श्रीलंका में उन्होंने यह बात कही थी कि सच्चा शिक्षक 'एक ऐसा दीप होता है जो और संख्य दीप प्रज्ज्वलित करता है।' कभी-कभी आशा चिन्ता मिश्रित रहती थी, जैसे कुछ पत्रों में वे हमेशा ही संगठन के प्रति चिन्तन के अपने मूलतत्व दोहराते थे। उस समय का ध्यान कर, जब वे खुद दुनिया में न होंगे, उन्होंने एक शिष्य से कहा- ''उस समय वह ऊर्जा बनाए रखना कठिन होगा जो संस्था को जिलाए रखे। यदि तुम सामने आए तो यह कमी पूरी हो सकती है।' यह एक परेशान करने वाला 'यदि' है। उस संगठन में कई विरोधी भी थे, जिनकी निष्ठा कहीं और थी। जब उन्हें पता चला कि उनका एक उच्च पदाव स्थित प्रियपात्र लंदन मट्रिकुलेशन की योजना पर विचार कर रहा है, वे 'एंग्लो बंगाली वर्गाभिमान' पर बोलने के लिए विवश हुए।

उसी साल (1933 में) संयुक्त बंगाल के शिक्षामन्त्री के नाम अपने पत्र में विपन्न बहुसंख्यकों की अनौपचारिक शिक्षा की एक योजना उन्होंने रखी। नये शिक्षा आयोग के सम्मुख एक भाषण में देश की दुखद अवस्था पर उन्होंने चिन्ता व्यक्त की।

बच्चे हमेशा उनके विचारों के केंद्र में रहे। 'आश्रम की शिक्षा' (1936) नामक एक आलेख में वे लिखते हैं कि जिसमें शिशु-सुलभ सरलता न हो, वह व्यक्ति शिक्षक होने लायक है ही नहीं। रबीन्द्रनाथ विवेक के पक्षधर थे, उनके लिए आदर्श शिक्षक एक उदार साधु था।

मृत्यु के कुछ महीने पहेल 1941 के अपने अंतिम सार्वजनिक व्याख्यान 'सभ्यता का संकट' में उन्होंने ब्रिटिश शिक्षा-नीति से रुसी शिक्षा-नीति का वैषम्य उजागर किया। 19 फरवरी, 1940 में महात्मा गांधी को रबीन्द्रनाथ ने विश्वभारती के संरक्षण के लिए एक चिट्ठी दी थी। स्वतन्त्रता के बाद शिक्षामन्त्री को महात्माजी ने वह चिट्ठी दिखायी और उसके परिणाम सर्वविदित हैं। विडम्बना देखिए कि विश्वभारती महत्व की संस्था थी, इसलिए उसे राष्ट्रीय विश्वविद्यालय का दर्जा मिला और बस। क्या यह कवि के सपनों की मृत्यु नहीं थी?

इस सरल आख्यान से इतना तो पता चलता ही है कि भले ही इसकी शिक्षा-नीति मनमौजी हो, पर यह संस्था रबीन्द्रनाथ की महीयसी आत्मा की जीवन-तरंग थी। हालाँकि इसे आशानुरूप सफलताएँ नहीं मिलीं, पर इसका महत्त्व अक्षुण्ण है। उन्होंने इसके माध्यम से इतने बारीक मुद्दे उठाए जो सामान्य जनजीवन की 'समझ' के परे था, पर बालकों को उपयुक्त संस्कार और सौन्दर्यबोध इसने दिया। रबीन्द्रनाथ के पुण्य-स्पर्श के बिना हमारा जीवन अधूरा है।

रबीन्द्रनाथ का प्रयोग, एक साथ ही परम्परा का स्वीकार भी था, नकार भी। एक एकाकी, सजल आत्मा के महाकाव्य के रूप में इसने अपनी खुराक कवि के अनवरत भावावेग से ली। इसके लिए बहुत साहस की अपेक्षा थी। कविता की अपनी सीमाएं होती हैं और रबीन्द्रनाथ बेकार ही गुरुदास बनर्जी की इस टिप्पणी का बुरा मान गये थे कि उनकी विश्वदृष्टि 'कविजनोचित' अर्थात् अव्यावहारिक है। पच्चासी वर्षों का इसका इतिहास क्या प्रमाणित करता है : कविता जीना कविता बाँचने से अधिक कठिन है। बच्चों के आनन्द और उनकी स्वाधीनता से रबीन्द्रनाथ का सरोकार सच्चा था। पर किस हद तक यह संस्था उनका प्रतिनिधित्व करती है? रबीन्द्रनाथ बार-बार अपने दुखद बचपन का हवाला देते हैं। क्या इस संवेदनशील पौधे का त्रास कमतर संवेदनशील बहुसंख्यक समाज पर भी लागू होता है? क्या शान्तिनिकेतन के छात्रों का चयन संवेदनशीलता के आधार पर होता है या होता था? रबीन्द्रनाथ की दृष्टि में निरपेक्षता और सामंजस्य ही जीवन और शिक्षा का उद्देश्य था। मानव प्रकृति, आधुनिक इतिहास और सभ्यता के उनके अपने आदर्श थे। कितनी दूर तक बहुसंख्यक छात्रों या शिक्षकों को ये बातें समझ में आ सकती है? उनके विद्यालय के छात्र स्वप्नशिशु ही कहे जायेंगे!

फिर तपोवन या आश्रम की आधारशिला क्या सुदृढ़ थी ? क्या शान्तिनिकेतन किसी अर्थ में सचमुच आश्रम है या था ? कल्पना का अर्थ चरितार्थ करना नहीं अहै। क्या सम्वेदना साधना की क्षति-पूर्ति कर सकती है ? प्रकृति के रूमानी दर्शन के अपने खतरे हैं। ब्रह्मचर्य विद्यालय की परिष्कारधर्मी बालिका विद्यालय में तब्दीली का अपना नीतिशास्त्र है। उनके आदर्शों के सर्वाधिक कटु आलोचक ने इस आश्रम को 'मायावी नमूना' कहा है और इससे असहमत होना मुश्किल है। इसकी जी कमियां है, व्यवस्थामुलक है। पुराने समय में वैयक्तिक सम्बन्ध अन्य कमियां की क्षतिपूर्ति कर लेते थे। और कुछ लोग जो कवि से जुड़े, वे अपने आप में भी महत्वपूर्ण व्यक्ति थे। और कुछ लोग जो कवि से जुड़े, वे अपने आप में भी महत्वपूर्ण व्यक्ति थे। पर ज्यादातर लोग उनका साथ छोड़ गये या उन्हें छोड़ना पड़ा! इस तरह से सर्वधिक तेजस्वी पुरुषों में एक थे सतीशचन्द्र, जो कम उम्र में ही परलोक सिधार गये। यह कहना कठिन है कि उस समय सिर्फ बंगाल या पूरे भारत का सर्वोतम जनसमुदाय कवि के विद्यालय से आ जुड़ा। कवि की उपस्थिति से बहुत अन्तर पड़ता था, पर कितने दिन कोई संख्या इस अवलम्ब के सहारे जीती ?

रबीन्द्रनाथ अपने तई कहते थे कि विद्यालय भीतर ही भीतर बढ़ रहा है। इससे अधिक सत्यांश उनकी उस उचित में था कि विद्यालय का विकास उनका अपना विकास है। जिस बात पर वे गौर न कर सके, वह यह कि वे खुद तो विकसित होते गये, पर विद्यालय का विकास अवरुद्ध हो गया। जिस क्रम में वे चीजों को प्यार करते थे, उनकी संस्था नहीं करती थे, बच्चे, गाँव, कला, राष्ट्रीय विश्विद्यालय, विश्व-मैत्री - यह स्नेह क्रम संस्था का नहीं था। पर रविन्द्र को यह सोचना अच्छा लगता था कि आश्रम इन आदर्शों के रंग में धीरे-धीरे रंगता चला गया है।

शान्तिनिकेतन नामक इस प्रयोग के केन्द्र में सिर्फ एक व्यक्ति था। दरअसल यह संस्था रबीन्द्रनाथ के परिवर्तनमान, रंग-बिरंगे व्यक्तित्व की प्रतिच्छाया-मात्र थी। कवि के बाद इसका क्या होना था ? शान्तिनिकेतन परम्परा की बात करता है, पर स्वयं इसका कोई पट्टशिष्य न हो पाया जो इसकी परम्परा आगे बढ़ता। इसकी एकमात्र परम्परा रबीन्द्रनाथ की वैयाक्तिक प्रतिभा थी। येट्स ब्राउन ने ठीक ही कहा कि शान्तिनिकेतन के पीछे लोकप्रिय आन्दोलन का समर्थन न था, था तो बस एक बड़ी आत्मा का अवलम्ब!

आज रबीन्द्रनाथ के प्रति सिर्फ वाचिक आस्था शेष रही है। उन्हें 'गुरुदेव' कहकर छुट्टी पा लेने का चलन हो गया है। पर शिष्य कहाँ हैं ? प्रशंसा के पुल बाँधना आसान है, कार्यानुसरण कठिन। समझौते की अपनी एक करुणागाथा है। पहले मैट्रिकुलेशन, फिर स्नातक तक की पढ़ाई और अब केन्द्रीय विश्वविद्यालय। स्वाधीनता, परिपूर्णता और व्यापकता के साहसिक प्रयासों के स्थान पर 1951 के बाद विश्वभारती ने न्यूनतम प्रतिरोध का रास्ता चुन लिया। सुरक्षा की तलाश में सामान्य विश्वविद्यालयों की नियति इसने

आखित्यार कर ली। कवि के साहसिक अभियानों की पुनर्सिद्धि के स्थान पर इसने उनके आदर्शों को पीठ दिखा दी। रबीन्द्रनाथ की ज्यादातर आशाओं की धीरे-धीरे तिलांजलि दे दी गयी। रबीन्द्रनाथ ने बहुत-से मोर्चों पर पहल की थी, विश्वभारती सबमें पीछे हट गया। आज की स्थिति यह है कि वह अपने 'कार्यक्रमों' के लिए अधिक जाना जाता है, गम्भीर उद्देश्यों के लिए कम। नये-नये विभाग खुलते जाने का अर्थ यह नहीं कि विश्वविद्यालय निरन्तर विकासमान है। रबीन्द्रनाथ के प्रयोगों या शान्तिनिकेतन की साधना की सही आजमाइश शायद हो नहीं पायी? क्या पता, कब इसका अभ्युदय होगा, पर निराशा में डूबने से अच्छा है आशान्वित रहना।

पर संदेहवादी, बुद्धिवादी जन भी प्रणेता को साहस का श्रेय तो देंगे ही। महान विचारों का संस्थायन कठिन है, सभी जानते है। पेरिक्लिज ने बहुत पहले कहा था— 'संस्थाएं महापुरुषों की समाधि होती है ।' रबीन्द्रनाथ का सपना रूढ़िबद्ध प्रशासकीय दबावों में आकर ढह भले गया हो, सूक्ष्म, अगोचर रूप में इसके उद्देश्य कारगर है : इससे किसको इनकार हो सकता है। एक मूक प्रेरणा के रूप में भारत और विश्व-भर की मनीषा को यह प्रभावित करता रहा है। तर्क नहीं, उपलब्धि नहीं, पर इसका अनुरोध अक्षुण्ण है। महती ऊँचाइयों के खोए संकल्प और असंख्य सम्भावनाओं का जादू एक अजीब तरह की करुणा और रहस्य के साथ इसे घेरे बैठे हैं। स्वर्णिम विगत का ध्यान हमें भावुक बना देता है।

कवि की आस्था सबको सहज ही छू लेती है— 'बच्चे जीवित होते है, उन वयस्कों की तुलना में जीवन इनके पास ज्यादा होता है जो अपनी आदतों के खोल में इन्हें कस मारते हैं। इसलिए उनके यथोचित मानसिक स्वास्थ्य और विकास के लिए यह आवश्यक है कि उन्हें अपने पाठों के लिए स्कूल न भेजा जाए, भेजा जाए एक ऐसी दुनिया में जिसकी आधारभूमि प्रेम हो। यह एक ऐसा आरम्भ हो जहाँ प्राकृतिक शान्ति में लोग एकत्र हुए हों, जहाँ जीवन सिर्फ ध्यानमय न हो, कर्ममय भी हो, जहाँ बच्चों को संकुचित देश-प्रेम घुट्टी में न पिलाया जाता हो, बल्कि यह सिखाया जाता हो कि सारा विश्व ही विधाता का सम्राज्य है, विश्वबन्धुत्व ही हमारा आदर्श, सूर्योदय-सूर्यास्त, सितारों का मूक सौन्दर्य, फल-फूलों का महोत्सव और इन सबके बीच यह प्यारी-सी अनुभूति कि बच्चे और बूढ़े, शिष्य और शिक्षक एक ही मंच पर बैठकर शाश्वत जीवन का प्रसाद चख रहे हैं। यदि रबीन्द्रनाथ का विद्यालय विषयक यह आदर्श है तो इसके सौन्दर्य और दुनिया के प्रच्छन्न विधायकों के बीच इसके अक्षुण्ण स्थान पर किसे सन्देह हो सकता है? कवि का विद्यालय, शान्तिनिकेतन, कभी पूर्णता के शिखर पर नहीं पहुँचा, क्योंकि यह मानवता के अनन्त तट पर विश्व की अजन्मी आत्मा में सतत निर्माणाधीन है।

भारत को रबीन्द्रनाथ टैगोर का संदेश

–सर्वपल्ली राधाकृष्णन

गायक का अपनी कला के समर्थन में
यह कहना निरर्थक नहीं है:
वह गीत जो राष्ट्र के हृदय को हिला दे
स्वयं एक ओजस्वी रचना है।

—टेनिसन

अरब की प्राचीन जातियां अपने उत्सव मनाने ठाट-बाट तथा उल्लास के साथ एकत्र होतीं, गाती-बजातीं, (होली की- सी) अग्नि जलातीं, सम्मान सूचक मुकुट पहनतीं, और श्रद्धापूर्वक इस बात के लिए देवताओं को धन्यवाद करतीं कि उनकी जाति में भी कवि ने अवतार लिया हैं। जैसा कि सचमुच उन्हें करना चाहिए था, क्योंकि किसी समय या परिस्थिति में अधिक-से-अधिक दया का कार्य करते हुए देवता और अधिक उपयोगी– मैं उसे अधिक उदात्त या दिव्य तो नहीं बताऊँगा- क्या चीज किसी जाति या राष्ट्र के लिए भेज सकते थे।

—कारलाइल

ऐसे महान् पुरुष, जो किसी भी युग में विरल हैं, जो अपने देश का मानस गढ़ते हैं और जिनका मूल्यांकन अपने ही जीवनकाल में पूरी तरह नहीं होता, हमारे युग में उनका जन्म लेना असाधारण बात है। रबीन्द्रनाथ टैगोर ऐसे ही महामानव हैं, आधुनिक भारत जिनका ऋणी है, और उस ऋण को मापने की धृष्टता हम नहीं कर सकते। उनकी शिक्षा दूर-दराज भारत के कोनों में पहुंची है, उनके कार्य से हमारे देश की कितनी नैतिक पुनजागृति और सामाजिक उन्नति होगी, यह कहना अभी बहुत कठिन है। वास्तव में वह एक राष्ट्रीय कवि हैं। भारत उनके हृदय मैं जो भाव भरता है, वह और कोई नहीं भर सकता। भारत की आवश्यकता को वह जानते हैं और हमें उसका ध्यान दिलाते हैं। वह भारतीय आत्मा की आन्तरिक वेदना का अनुभव है, उसमें उठते उद्वेगों को, आशंकाओं को समझाते हैं, जिन कठिनाइयों में वह घिरी है। उनकी पुस्तकों में भारतीय जीवन के सुख और दु:ख, आशा

और निराशा, संशय और विश्वास समाविष्ट है। जॉनसन के अनुसार हम यह कह सकते हैं कि 'रबीन्द्रनाथ की रचनाएं ऐसी भावुकता से परिपूर्ण है, जिसकी प्रतिध्वनी हर भारतीय हृदय से उठती और गूंजती है।' वह ऐसी आशंकाओं को शब्द देते हैं जो भारत के किसी समय के उज्जवल विश्वास को आज अन्धकारमय बनाये हुए हैं।

उनका जन्म ऐसे समय में हुआ, जब अन्धविश्वास का बोलबाला था और सामाजिक अव्यवस्था पराकाष्ठा को पहुंच चुकी थी, जब ऐसी अराजकता फैली थी जैसा शायद पहले कभी नहीं देखी गई। भारत के राष्ट्रीय कवि के नाते उन्होंने भारतीय समाज की व्याख्या की और उसके विचारों को सुधारा। उभरते हुए अविश्वास की गहराई में जाकर ईश्वर और भारत के भविष्य के प्रति दृढ़तर आस्था के आधारों को निर्माण करने का कार्य धीरे-धीरे कवि की कृतियों ने किया।

वह एक ऐसी विरल आत्मा थी, जिसने संसार को मानवता का संदेश दिया, पुनीत मानवता की दृष्टि से उनका संदेश महत्तम था, उनकी रचनाएं केवल राष्ट्र की संकुचित सीमा में नहीं बंधी, किन्तु उन्होंने एक विशाल दृष्टिकोण को अपनाया। उनमें बसी भारत की आत्मा केवल भारतियों से नहीं, समस्त संसार से कुछ कहती है। ब्रिटिश साम्राज्य से उन्हें एक विशेष शिकायत है, जिसे वह छिपाते नहीं। डॉ. संडरलैंड ने 'क्रिश्चियन रजिस्टर' के एक लेख में लिखा है— 'संसार के किसी भी देश ने धर्म और जीवन की सभी समस्याओं पर इतने महान् विचारक पैदा नहीं किये, जितने प्राचीन भारत ने। आज के भारत में मि. टैगोर से अधिक मेधावी, दयालू, उदार और महान् शिक्षक नहीं है। ऐसा भी कोई नहीं, जो उनसे अधिक हमसे उसे, जो कुछ भी हम दे सकते हैं, ग्रहण करने को उत्सुक हो तथा अपनी ऐतिहासिक भूमि के उच्चतम ज्ञान को हमें देने में समर्थ हो। रबीन्द्रनाथ भारत के प्राचीन प्रज्ञा की व्याख्या विश्व के सामने करते हैं। उनके काव्य और संगीत से रूपान्तरित तथा उनके मेधावी मस्तिष्क और संस्कृति द्वारा पुनः संशोधित आद्यतन बनायी हुई वह प्रज्ञा आत्मिक क्षुधा को तृप्त करने की क्षमता रखती है। विश्व उनका सम्मान केवल इसीलिए नहीं करता कि उनका व्यक्तित्व वैभवपूर्ण है और प्रकृति के विविध रूपों का वर्णन उनकी कविता में हुआ है, अपितु इसलिए भी करता है कि उनकी कृतियों में अध्यात्मिक संदेश है।'

(2)

आज भारत के सामने महान् समस्या देश के धार्मिक भविष्य की है। धार्मिक स्थिति को हमें इस प्रकार संभालना होगा, जिससे देश की अध्यात्मिक शक्ति का विकास हो तथा यहां फैले हुए देशी और विदेशी सभी धर्मों, विश्वासों और मतों के प्रति न्याय हो और सब इस भूमि में फल-फूल सकें। रबीन्द्रनाथ एक स्वप्न देखते हैं और हमारे सामने भारत का एक ऐसा चित्र उपस्थित करते हैं, जिसके अनुसार भारतीय जनता अंधविश्वासों से ऊपर

उठकर आपस की मिथ्या धारणा को त्याग कर और सब प्रकार के झगड़ों को मिटाकर या अपने-अपने ढंग से एक ईश्वर के प्रति गहरी भक्ति। उनका पथ ज्ञानमार्ग का नहीं, वरन् आत्मा की अनुभूति का है। पूजा की बाह्य विधियां विभिन्न हो सकती हैं, किन्तु धर्म का गहरा आन्तरिक अनुभव एक ही होता है। सूफी फकीर, इसाई पादरी और हिन्दू ऋषि सब स्वीकार करते हैं कि यह सृष्टि परमात्मा द्वारा शाश्वत सौन्दर्य का प्रकाशन है, उसकी रचना मनुष्य है, जिसकी पूर्णता उसी परमात्मा में एकाकार होने में है। रबीन्द्रनाथ का दर्शन पूर्णतया ठोस ढंग का आदर्शवाद है। उनका परमात्मा निराकार नहीं जो विश्व से विलग रहता हो, वह इस विश्व के जीवन की ऐसी केन्द्रीय शक्ति है, जो हवा में तूफान और सागर में लहरें पैदा करे। जन्म और मृत्यु के तांडव नृत्य का यह एक अंतिम सत्य है। रबीन्द्रनाथ की पूर्ण दृष्टि ऐसी है जो शरीर और मन, जड़ और चेतन, व्यक्ति और समष्टि, जाति और राष्ट्र तथा साम्राज्य और संसार, इनका एक-दूसरे से पूर्ण विभाजन सहन नहीं कर सकती। संसार-भर के रहस्यपूर्ण अनुभवों के पीछे यही दर्शनतत्व निहित है। रबीन्द्रनाथ का धार्मिक संदेश सहज है : 'धर्मों में आपसी भेद भले ही रहें, किन्तु तुम धर्मनिष्ट रहो, आनन्द उनके लिए है, जो आत्मा की इस एकता और पूर्णता का अनुभव करते हैं, वह उनके लिए है, जो अन्तरात्मा में निहित उस दिव्यात्मा की आवाज सुनते हैं।' इस लक्ष्य पर पहुंचने के लिए आवश्यक नहीं कि परम्परागत मार्ग का ही अनुसरण किया जाय, क्योंकि भक्ति का मार्ग पदचिन्हों से निर्दिष्ट मार्ग नहीं है। रबीन्द्रनाथ हमें शुद्ध धर्म बताते हैं, जो सभी युगों और कालों में एक-सा है, जिनमें मनुष्य की विशुद्ध बनी आत्मा अपने अनुरूप घर प्राप्त कर सकती है। उनका धर्म मनुष्य के बने नियमों-उपनियमों या चर्च के अदेशों से प्रतिबद्ध नहीं, जो बाधाएं उपस्थित करता रहे। 'जब धर्म को धार्मिक संगठनों के लिए रास्ता देना होता है, तब उसकी स्थिति रेतीले मैदान में बहती नदी के जैसी होती है, उसका प्रवाह स्थिर हो जाता है और उसका रूप रेगिस्तान के जैसा हो जाता है।' स्वतंत्र और पवित्र होने पर धर्म का आध्यात्मिक सम्बन्ध सभी सम्प्रदायों और मतों से होता है। सभी प्रकार की आत्माएं इसमें मौलिक आध्यात्मिक संतोष पा सकती हैं। रबीन्द्रनाथ विभिन्नताओं में एक बुनियादी एकता का दर्शन करते हैं और इसलिए उनका धर्म सबको अपील करता है। उनके बोलपुर-स्कूल में ब्रह्मसमाजी, इसाई और हिन्दू सभी हैं। धार्मिक विश्वासों की विभिन्नता वहाँ कोई कठिनाई प्रस्तुत नहीं करती। कविवर एक निराकार परब्रह्म की ही उपासना पर जोर देते हैं, चाहे उपासना की विधि कोई भी हो। उनके एक लेख 'ईसा की भारत को अपील' (दि अपील ऑव क्राइस्ट टू इंडिया) से ज्ञात होता है कि उनका धर्म ईसाई धर्म के कितना समीप है। उसमें वह पूछते हैं, 'उसके (ईसा) सिवा किसने हर रूप से मनुष्य को चमकाया है?' उनकी यह आशा है कि भारत की भूमि पर संसार के जिन विभिन्न धर्मों का सम्मिलन हुआ है, वे एक-दूसरे से टकराना छोड़ देंगे और आपस में

मेल-मिलाप स्थापित करेंगे। 'हिन्दू, बौद्ध, मुसलमान और ईसाई कोई भी भारत की भूमि पर आपस में नहीं लड़ेगा, वे सब यहां एक समन्वय की खोज करेंगे और उसे प्राप्त करेंगे। वह समन्यव अहिन्दू नहीं होगा। वह अनूठे रूप से हिन्दू होगा। वह समन्वय अहिंदू नहीं होगा। वह अनूठे रूप से हिन्दू होगा। उसका उपरी स्वरूप कुछ भी हो, उस परिणाम की एक-रूपता में भारतीय आत्मा स्वरूप कुछ भी हो, उस परिणाम की एक-रूपता में भारतीय आत्मा का ही निवास होगा।'

रबीन्द्रनाथ ने मत, प्रान्त या भाषा के आधार पर नहीं, वरन् विश्व-बंधुत्व जैसे आध्यात्मिक दृष्टिकोण के उदात्त आधार पर भारत के निर्माण का कार्य किया है। देश के नवनिर्माण के लिए भारतियों को कटिबद्ध होना चाहिए, क्योंकि वे सभी भारतीय हैं, इसी धरती के बच्चे हैं और भारतीय ऋषि-मुनियों के वंशज हैं। जैसे हिन्दू के लिए, वैसे ही मुसलमान के लिए भी भारत उसके वंशजों का घर है, उसके साधुओं और फकीरों के रजकण इसी धरती में मिले हैं, यही धरती उनके धर्म और सदाचार का केंद्र है, उसकी उन्नति में उसकी आशाओं का वास है।

रबीन्द्रनाथ की यह दृढ़ और सच्ची धारणा है कि आधुनिक सभ्यता, धर्म और संस्कृति के भयंकर आक्रमण के विरुद्ध हिन्दू धर्म तभी टिका रह सकता है, जब वह स्वयं अपनी कट्टरता और अन्धविश्वासों से छुटकारा पा ले। विशुद्ध और पवित्र आर्य-धर्म, भारत में बाहर से आनेवाली अनेक विचारधाराओं को आत्मसात् कर उन्हें एकता प्रदान कर सकता है

हमें अब उन पुराणी रूढ़ियों, व्यर्थ की बातों और दकियानूसी सूत्रों से, जो आज भी हमें घेरे हुए हैं, छुटकारा पाना चाहिए। रबीन्द्रनाथ टैगोर का वह आध्यात्मिक धर्म, जिसका आदर्श विशुद्ध हृदय और ऊँचा चरित्र है, जिसका सिद्धान्त ईश्वर के प्रति प्रेम और मानव की सेवा है, वह कभी भी पंडित-पुरोहितों की कट्टरता, पुराने रीति-रिवाजों, कट्टरपंथी सिद्धांतों और अंधविश्वासों, असभ्यता और दंभ, जाति, पद और अधिकार के बड़प्पन, वर्ग-विशेष के स्वार्थ और जातीयता के आधार पर राष्ट्रों की श्रेष्ठता से समझौता नहीं कर सकता। भारत की आत्मा को इन पापों से मुक्त कराना होगा।

(3)

उन बुराइयों में, जो हमारे राष्ट्रीय जीवन के मूल स्रोत को विषाक्त कर रही हैं, प्रमुख जाति-प्रथा है। रबीन्द्रनाथ इसके उद्देश्य को और उन सिद्धान्तों को नहीं भूले हैं, जिन पर यह आधारित है। जब आर्य लोग पहले-पहल भारत आये, तब देश के निवासियों से उनकी मुठ-भेड़ हुई। आर्य लोग अध्यात्मिक प्रेरणा से प्रभावित थे, इसलिए उन्होंने यहाँ के आदिम निवासियों को जड़ से उखाड़ फैंकने या उन्हें गुलाम बनाने जैसे निकम्मे तरीके नहीं अपनाये, बल्कि उन्होंने आध्यात्मिक एकता और जातीय विभिन्नताओं के आधार पर सामाजिक

व्यवस्था की स्थापना की। जाति-प्रथा की स्थापना सामाजिक एकता के रूप में हुई, जिसमें विभिन्न प्रकार के लोग अपने मतभेदों के रहते हुए भी पूर्ण स्वतंत्रता और आपसी मेल-जोल के साथ रह सकते थे। भारत की सामजिक व्यवस्था पारस्परिक मेलजोल के आधार पर बनी है, न कि फूट पर। 'यूरोप में ऐसा नहीं है, वहाँ सभी वर्ग अपना-अपना अक्सी करते हुए सामाजिक संगठनों को बनाये रखने के लिए सामूहिक रूप से प्रयत्नशील नहीं रहते य इसके विपरीत वे आपस में लड़ते रहते हैं और प्रत्येक वर्ग सदा इस आशंका से घिरा रहता है कि कहीं दूसरा वर्ग उससे अधिक मजबूत न हो जाय। इस प्रकार सामजिक सामंजस्य की भावना नष्ट-भ्रष्ट हो जाती है .... भारत ने ऐसी भावनाओं को समन्वित करने का यत्न किया है, जो एक-दूसरे के विरुद्ध है, वह समाज की परस्पर-विरोधी शक्तियों को सीमाबद्ध करता रहा है, और इस प्रकार समाज का एक ऐसा संगठन बनाता रहा है, जिससे एक रहते हुए वह भिन्न कार्य करने में समर्थ बन सके। ब्राह्मण वर्ग के लिए उनका मत है कि प्रत्येक समाज में इस प्रकार का एक वर्ग होना चाहिए। भारतीय सामाजिक व्यवस्था में ब्राह्मण सर्वोपरि हैं, और समाज के नेता माने जाते हैं। यद्यपि भारत अपनी राजनीती के चक्र में कई परिवर्तनों में से होकर गुजरा, तथापि समाज में भारी परिवर्तन नहीं आये, क्योंकि उसके आदर्श और परम्पराओं को इस वर्ग ने संभाले रखा। ब्राह्मण इसकी परमप्र के त्रुस्ती और उसकी अध्यात्मिक शक्ति के संरक्षक हैं। इस आदर्श के अनुसार ब्राह्मण गरीबी को अपना विशेषाधिकार, ज्ञान को अपनी वृति मानते हैं और आत्म-त्याग तथा अनासक्त भाव से आध्यात्मिक आदर्शों का पालन करते हैं। धन की लिप्सा से रहित और निंदा-स्तुति से परे रहकर आध्यात्मिक शक्ति का विकास ही उनके जीवन का प्रमुख ध्येय रहा है।

श्रम-विभाजन को आजकल केवल अर्थशास्त्र में ही नहीं, अपितु समाज-व्यवस्था तथा अन्य बातों में भी, एक प्रबल सिद्धान्त के रूप में मान्यता मिल गई है। यदि हम अपने कपड़े या अपने जूते स्वयं तैयार नहीं कर सकते, यदि विशेष रूप से प्रशिक्षित व्यक्ति इन कामों को हमसे अधिक अच्छी तरह कर सकते हैं, तो क्यों न हम कलात्मक सुन्दर उत्पादन और आध्यात्मिक खोज के लिए एक वर्ग बना दें? इस वर्ग के लोग कला के उस आनन्द और आध्यात्मिक सौन्दर्य की खोज करेंगें और उसे समाज के सामने प्रस्तुत करेंगे। इस कारण यह वर्ग अपने-आप ही अन्य वर्गों की अपेक्षा ऊँचा मान लिया जाता है, क्योंकि व्यापारी और दुकानदार मनुष्य की भौतिक आवश्यकताओं की पूर्ति करते है, जबकि इस श्रेणी के लोग आध्यात्मिक स्वास्थ्य और समाज के आनन्द के लिए सामग्री जुटाते हैं। ये समाज को सुख मिले और ये समाज के उन लोगों पर बड़ा नैतिक प्रभाव डालते हैं, जो संसार के झमेलों में इतने फंसे हैं कि उन्हें अपने तथा समाज के कल्याण के लिए तथा जीवन में कुछ ऊँची बातों के सम्बन्ध में सोचने का अवकाश नहीं। किन्तु इस प्रकार उन्होंने आजकल के पतित और गिरे हुए ब्राह्मण-वर्ग का बचाव नहीं किया है, जिसने भलाई करने के बजाय

ईश्वर के नाम पर बहुत बुराई की है। क्योंकि ऐसे ब्राह्मणों ने अपने पुराने आत्म-त्याग और आध्यात्मिकता को खो दिया है, इसलिए वे अन्य वर्गों के आदर-सम्मान के अधिकारी रहे हैं। इसका कारण यह है कि उन्होंने बलपूर्वक दूसरे वर्गों पर अपना आधिपत्य जमाया और उन्हें निम्न श्रेणी का बताया। इसी कारण उनका प्रभाव तथा आदर कम हो गया। उन्होंने शूद्रों के मस्तिष्कों को पंगु बना दिया और इसलिए आज स्वयं उन्हें अपमान मिल रहा है और स्वयं उनके मस्तिष्क कुचले जा रहे हैं। 'जब शूद्र ने अपने को ब्राह्मण से नीचा मानकर आत्म-समर्पण में ब्राह्मण के आगे हाथ जोड़ दिये, उसी दिन ब्राह्मण के लिए गढ़ा खुद गया।' वे पुराने ब्राह्मणों का अधिकार और सम्मान तो चाहते हैं, किन्तु उनके जीवन में वे आदर्श और वह अध्यात्मिक शक्ति नहीं, जिससे वे अपने पूर्वजों की तरह लोगों का आदर पा सकें।

जाति-परम्परा के अनुसार समाज के विभिन्न वर्गों में जो गुण तथा मूल्य रोपित किये गए हैं, उस व्यवस्था के ठीक न होने का प्रश्न ही नहीं उठता। सर्वोच्च स्थान उस दार्शनिक को दिया गया है, जो सत्य की खोज, कलात्मक रचना और नैतिक प्रयत्नों में अपना जीवन लगा दे। जब तक दार्शनिक के कार्य को सारे समाज की मान्यता प्राप्त है, राजनैतिक स्थिरता और आर्थिक आधार भी सुरक्षित है। शांति की सुरक्षा और राजनैतिक व्यवस्था का कार्य क्षत्रिय जाति का है। व्यापार और कृषि व्यवस्था के लिए भी वर्ग बने हैं। यह एक ऐसी सामन्ती वर्ण-व्यवस्था है, जहाँ हर कार्य का अपना महत्त्व है और उसका मूल्यांकनधन के घटने-बढ़ने पर निर्भर नहीं, बल्कि आत्मा की उन्नति पर निर्भर है। हमें मूल्यों के इस प्रकार के निर्णय का त्याग नहीं करना चाहिए। आधुनिक सभ्यता, जो धनवानों की सभ्यता है, व्यक्ति की प्रतिष्ठा को भौतिक द्रव्य से मापती है। इस प्रकार के भौतिक उद्देश्य और आधार से, स्वार्थ और स्पर्धा बढती है। किन्तु भारतीय प्रणाली में सम्पत्ति के आधार पर सम्मान का कोई विचार नहीं है। विश्वबंधुत्व और प्रेम ही हमारी वर्ण-व्यवस्था का उद्देश्य है। मनुष्य अपने-आप में उद्देश्य हैं, क्षणिक प्राणी नहीं, जिसे हम जब चाहें उपयोग में लायें और जब चाहें फैंक देंद्य वर्तमान वर्ग-व्यवस्था का दृष्टिकोण भौतिक है, जबकि वर्ण-व्यवस्था अध्यात्मिक है। यह अनुभव करने पर कि आधुनिक जीवन का भौतिकवाद अपने अन्दर तुच्छ विश्वास को छिपाये है और मनुष्य की अधिक महत्वपूर्ण आवश्यकताओं को पूरा नहीं कर सकता, हमें वर्ण-व्यवस्था से एक सबक सीखना होगा और प्रेम तथा भाईचारे, स्वतंत्रता तथा साहचर्य के आधार पर अध्यात्मिक सभ्यता का निर्माण करना होगा। इसका यह अर्थ नहीं कि हम भारत में इस समय प्रचलित जाति-प्रथा का समर्थन करते हैंद्य अपरिवर्तनशील और कट्टर जाति-प्रथा का समय लद चूका और अब उसका अंत होना ही चाहिए। रबीन्द्रनाथ लिखते हैं, 'वर्ण-व्यवस्था ने संकीर्णता और असहिष्णुता से स्वतंत्र होने में अपना प्रयाप्त योगदान दिया है, यह हिन्दू धर्म की विशेषता है और इसने विभिन्न

संस्कृतियों वाली जातियों को इतना ही नहीं, परस्पर-विरोधी सामाजिक तथा धार्मिक रीतियों और आदर्शों को भी, एक साथ शांतिपूर्वक रहना सिखाया है ..... किन्तु इस मेलजोल ने ही, जो समाज-व्यवस्था के अनुसार किसी भी परिस्थिति को स्वीकार करने की प्रवृति को बढ़ावा देता है, मनुष्य के निजी व्यक्तित्व को कुचल दिया है और इसी कारण शताब्दियों से हम न केवल किसी भी सत्ता के आगे अपने को समर्पित करने के आदी हो गए हैं, बल्कि कभी-कभी हम उस शक्ति का सम्मान करने लगते हैं, जिसका हम पर आधिपत्य है। मेरी दृष्टि से भारतीय जनता का पुनर्जन्म, प्रत्यक्ष तथा पूर्ण रूप से इस स्थिति को दूर करने पर ही आधारित है।' जात-पांत की इस प्रथा ने अभीतक एक उद्देश्य की पूर्ती की, किन्तु आज वह मनुष्य की आध्यात्मिक आस्था और बाह्य रूप से सामाजिक उन्नति में निश्चित रूप से बाधक है। जाति-प्रथा जीवन के प्रवाह को समझने में असफल रही है और वह मन के विकास तथा मानवीय गुणों की परिवर्तनशीलता को स्वीकार नहीं कर सकी है। उसे यह समझ में नहीं आया कि 'मानव-स्वाभाव में जो भेद हैं, वे पर्वतों की तरह अविचल नहीं है, वरन् वे जीवन-प्रवाह की तरह गतिमान हैं और अपने अपथ, आकार और विस्तार को बदलते रहते हैं।' वर्ण-व्यवस्था की जो आत्मा थी, वह मर चुकी है। भारत आज भी जिसकी आदर-सम्मान के साथ पूजा कर रहा है, वह केवल उसका शव है। मनुष्य ने जिस विशाल सामाजिक यंत्र की रचना की थे, वह आज आत्मा को कुचल रहा है। स्वतंत्र विचार-शक्ति और निजी प्रतिभा दब गई है। यदि ' पोस्ट ऑफिस' के बालक अमल की तरह हम अपने मानस को विकृत कर दें और अपनी स्वतंत्रता को बंद जेलखाने में सीमित करके संकुचित कर दें और परम्परा-प्राप्त शास्त्र-रूप डॉक्टरों से ही दावा लेते रहें तो हम अपने भ्रमों से कभी छुटकारा नहीं पा सकते। जैसे बच्चा बाहर जाने को उत्सुक हो उठता है, वैसे ही मानव-मन स्वतंत्रता के लिए अकुलाता हैय किन्तु हमें परमात्मा के प्रकाश और खुली हवा को भीतर आने के लिए अपने बंद घर के दरवाजे तोड़कर खोल देने होंगे और दीवारें गिरा देनी होंगी, जिससे हम प्रकाश पा सकें।

रबीन्द्रनाथ समय की सामाजिक समस्याओं को आर्थिक अथवा उपयोगितावाद के संकीर्ण दृष्टिकोण से नहीं देखते। वह अपने आध्यात्मिक दृष्टि से उन सामाजिक समस्याओं का अवलोकन करते हैं और उन्हें आदर्श के अधिक ऊँचे स्तर पर ले जाते हैं। उनके प्रति उनका व्यवहार जन्म, आदत या शिक्षा द्वारा निश्चित नहीं होता, वरन् अध्यात्मिक दृष्टिकोण द्वारा निश्चित होता है, जो उनके जीवन का प्रमुख सिद्धांत है तथा जिसके लिए वह अपना सारा जीवन लगा रहे हैं। यदि लोग जीवन के प्रति सही दृष्टिकोण को अपना लें और मनुष्य में छिपे ईश्वरत्व का आदर करना सीख लें, तो वर्तमान सामाजिक अशांति दूर हो जायगी।

जीवन के भौतिक दृष्टिकोण के कारण हम गरीबी से डरते हैं, किन्तु अध्यात्म-प्रधान राष्ट्रों में गरीबी है, किन्तु सदियों के अध्यात्मिक अनुशासन ने भारतीय जनता को इतना

नियमन और आत्म-संयम दे दिया है कि यद्यपि भारत में सबसे अधिक गरीबी हैं, फिर भी अधिक धनवान देशों में सामाजिक असंतोष और संघर्ष भारत से कहीं अधिक है। जब बहुत बड़ा अकाल देश में छा जाता है या प्लेग जैसी महामारी फैलती है, तब भारत के लोग बड़े दीनभाव से उसके आगे झुक जाते हैं। दु:ख और आपत्ति में वे दया की भीख मांगते और प्रार्थना करते हैं, तड़पते और व्याकुल होते हैं और अंत में रोते हुए, ईश्वर को आत्म-समर्पण करते हुए मूक रहकर ही मर भी जाते हैं। हम भारत में हड़ताल और दंगे, खिड़कियों को तोड़ने और बम गिराने, सामूहिक आन्दोलनों और भूखी स्त्रियों तथा बच्चों द्वारा प्रदर्शनों की बातें नहीं सुनते। उनका विपत्तियों और तकलीफों को शांतिपूर्वक स्वीकार कर लेना संसार के लिए आश्चर्य की बात है। उनकी आत्मिक सहिष्णुता ईसा के उस महान् बलिदान की याद दिलाती है, जो परिस्थिति और बुराई के थपेड़ों के जवाब में बुद्धमत्ता और दैवी गुणों के अमिट विरोध है। जीवन का भौतिक दृष्टिकोण सामाजिक असंतोष का मूल कारण है और उसका समाधान आध्यात्मिकता में है। प्रोफेसर एल.बि. जैक्स कहते हैं- 'सबसे अधिक सामाजिक असंतोष सबसे अधिक गरीब देशों में नहीं पाया जाता, बल्कि सबसे धनवान् राष्ट्रों में पाया जाता है..... उया रिस्क मुख्य कारण भी व्यक्तियों का यह पारस्परिक वैषम्य नहीं होता कि कुछ व्यक्तियों के पास अधिक है और कुछ के पास कम। इसमें शक नहीं कि यह भी एक कारण है, पर यही मुख्य कारण नहीं। इसका मूल कारण यह है कि जिस जाति का लक्ष्य धनोपार्जन है और जो आर्थिक व्यवस्था द्वारा ही उस उद्देश्य को पूरा करने में लगी रहती हो, उसके द्वारा उसके किसी भी सदस्य को संतोष नहीं होता, जबकि उस व्यवस्था के विरुद्ध सभी मनुष्य अपने उच्च मानव-सवभाव के कारण विद्रोही बन जाते हैं। धनि राष्ट्रों की कठिनाइयां उनके अर्थपरायण होने की प्रमुखता के कारण होती है। अपने उद्देश्य की पूर्ति के लिए वे आर्थिक कुशलता को अपनाते हैं। अधिक-से-अधिक उत्पादन ही उनका प्रमुख उद्देश्य होता है और मनुष्य उस बड़ी मशीन का एक छोटा पूर्जा बनकर रह जाता है। इस मशीन की वेदी पर मानव की बलि दी जाती है। पुरुष, स्त्री और बच्चों का और आत्मा का वहाँ कोई मूल्य नहीं होता। आज हम देखते हैं कि लोग इस विनाश के प्रति जागरूक तो हैं, किन्तु संसार की समस्त शुभेच्छाओं के होते हुए भी वे औद्योगीकरण की कठिनाइयों से छूट नहीं पाते, क्योंकि आर्थिक नीति को उनकी आवश्यकता हैं, इसलिए हमें उन्हें उचित बताना पड़ता है। इनका एकमात्र हल अधिक ऊंची मानवता और अध्यात्मिक आदर्श थे और आज वह समाज-व्यवस्था को कुछ इधर-उधर बदल देने अथवा कौंसिलों में कुछ अधिक सीटें पा लेने या ग्रामोद्योगों के स्थान पर कुछ अन्य उद्योग खड़े कर देने मात्र से ही अपनी पुरानी कीर्ति तथा भव्यता को पुन: प्राप्त नहीं कर सकता। यदि भारतीय आत्मा स्वतंत्र हो जय और वह अपनी आध्यात्मिक प्रतिभा सुरक्षित रक्खे तो उसे एनी सब कुछ भी मिल सकता है। 'तब भारत में प्रान्त से प्रान्त मिल जायगा, जाति का जाति से

मेल होगा, ज्ञान ज्ञान से मिलेगा। और सब मिलकर नवनिर्माण के लिए प्रयत्नशील होंगे, तब भारतीय इतिहास का वर्तमान अध्याय पूरा हो जायगा और वह संसार के अधिक महान् इतिहास में प्रवेश करेगा।'

आज के शिक्षित भारतीय रबीन्द्रनाथ के इस आदर्श से सहमत नहीं कि भारत अपनी विशेषता को बनाये रक्खे, वे यह अनुभव करते हैं कि भारत का हल उन्नत राष्ट्रों की नकल करने में है। अपनी चमड़ी बचाने की फिकर में वे यह भूल जाते हैं कि आत्मा की रक्षा ही अंत में अधिक लाभदायक होगी। यदि शिक्षित वर्ग यह अनुभव नहीं करता तो यह इस बात की निशानी है कि रोग कहां तक फैल गया है और रोगी की दशा कितनी खराब हो गई है। जब तक कोई स्वयं प्राचीन भारत की उस प्रेरणा से परिचित न हो, तब तक उसके लिए यह विश्वास करना असंभव है कि किस हद तक भारत हर प्रकार से भौतिक प्रभाव के दि्नचे दब गया है। ये भारतीय यह कह कर अभिमान करते हैं, कि वे व्यवहारपटु हैं। व्यवहारपटु होने की कितनी बड़ी कीमत आज चुकानी पड़ती है ! इसकी कीमत के रूप में उन्हें अपनी आत्मा देनी पड़ती है। आत्मा को खोकर राजनैतिक सभ्यता के बाह्य रूपों को प्राप्त करने का कोई लाभ नहीं। रबीन्द्रनाथ के अनुसार, नकल हमारी हड्डियों के ढांचे को दूसरे व्यक्ति की चमड़ी से ढंकने के समान है, जो प्रत्येक पग पर चमड़ी और हड्डियों में शाश्वत उपद्रव पैदा करती है। यदि भारत की राजनैतिक मुक्ति उसकी आत्मा को बेचकर प्राप्ति होती है तो बेहतर है कि हम इस भौतिक व्यवस्था को छोड़ दें, पर आत्मा की रक्षा करे। तब भारत अपनी आत्म-शक्ति को पुन:स्थापित करेगा। और यदि उसके भाग्य में विनाश ही लिखा है, तो वह उस शान से मरेगा और इस मरण में आत्मा की विजय होगी। 'किन्तु हमें दृढ़ रहना चाहिए और साहसपूर्वक सत्य, भलाई, मानव में बसे उस अमर ईश्वर तथा उस स्वर्ग के लिए, जो हृदयों के मिलन में है, और आत्मा की उस स्वतंत्रता के लिए सब कुछ सहन करना चाहिए।' इन सब बातों का अर्थ यह नहीं लगाना चाहिए कि रबीन्द्रनाथ को भारतीयेतर वस्तुओं से कोई सहानभूति ही नहीं। उन्हें पूरा विश्वास है कि पश्चिमी सभ्यता अन्य सभ्यताओं की तरह ही उस अलौकिक शक्ति की सृष्टि है। केवल उसकी आत्मा की कलम भारतीय आत्मा की कलम में नहीं लग सकती। उग्रवादी सुधारक यह समझते हैं कि यह प्रक्रिया आसान है। क्योंकि वे सोचते हैं कि भारत देश सहसा किसी भूगर्भ-विज्ञान-सम्बन्धी हलचल के फलस्वरूप समुद्र की तह से उभरा है और इसका ऊपरी स्तर मोम जैसा स्वच्छ और चिकना है, जिस पर हर चीज का प्रतिबिम्ब अंकित परम्पराएँ हैं। सभी जगह इतिहास में अपनी आध्यात्मिक सभ्यता, आत्मा की महानता, अपनी गहरी पवित्रता, अपने शौर्य-पराक्रम तथा सहिष्णुता और आतिथ्य-सत्कार के लिए उसके आदर हुआ है। ये सभी गुण प्रत्येक भारतीय के जीवन का अंग बन गए हैं। जो उसके स्वभाव में रम गया है, उसे छोड़ देना सम्भव नहीं। वह बाह्य को अपना कर आन्तरिक शक्ति

को ही खो सकता है। विदेशी सभ्यता के गुणों की अपेक्षा दुर्गुणों को अपनाना अधिक आसान है। वास्तव में देखा जय तो पश्चिम के सम्पर्क ने भारत के धर्म और सादे जीवन को हिलाया है। ईश्वर में उसकी गहरी आस्था, पुण्य और त्याग की उसकी एटीएम-शक्ति धीरे-धीरे भौतकवाद और धन की पूजा के आगे झुक रही है। अदृश्य वस्तुओं के प्रति जो उद्वेग था, उसका स्थान अब धनवान् बनने की भयंकर उत्सुकता ले रही है। जो आंखे स्वर्ग को देखने के लिए बनी थी, वे अब धूल चाट रही है। जो हृदय भगवान के दयां से भरने को था, वह अब आराम और कुत्रिमता पर जमा है। कृति और जीवन के उल्लास को अब छीन-झपट और संग्रह का बुखार चढ़ा है। इस देश के लोग, जिन्होंने गरीबी का कभी तिरस्कार नहीं किया, आज गरीब होने से डरते हैं। वे लोग, जो एक उद्देश्य के लिए आनन्द और शान्तिपूर्वक अपने को न्योछावर करना जानते थे, आज मृत्यु के दर से पीले पड़ जाते हैं और आत्मा का बलिदान देकर भी जीवन से प्यार करते हैं। उनके मन बौद्धिक भोजन के बिना कुंठित हो रहे हैं। उनकी आत्माएँ आध्यात्मिक आकाल से संकुचित हो रही अहिं। भौतिक प्रभाव धीरे-धीरे बढ़ रहा है और भारतीय आत्मा के असली तत्व का ही भक्षण कर रहा है।

यदि रबीन्द्रनाथ भारत की राजनैतिक अधीनता के विरुद्ध हैं, तो उसका उद्देश्य किसी प्रकार का स्वार्थ नहीं। वह पाश्चत्य भावना से डरते हैं, जो भारतीय आत्मा को धीरे-धीरे दबा रही है और उसके जीवन को शुष्क बना रही है। उदाहरण के लिए, पश्चिम द्वारा आज के भारत का दृष्टिकोण कितना बदला है, इसका उदाहरण देते हुए रबीन्द्रनाथ कहते हैं कि आधुनिक भारत हर प्रकार की सहायता के लिए सरकार की ओर देखता है। यद्यपि बहुत-से आक्रमणकारी भारत पर छा गये, किन्तु भारत के लोगों पर उसका कोई असर नहीं हुआ, क्योंकि वे बहुत-से क्षेत्रों में अपना काम स्वयम चला रहे थे। शिक्षा और सफाई, कृषि और उद्योग सभी विषय लोगों के नियंत्रण में थे। सरकार नाममात्र के लिए लोगों के ऊपर थी उनका एक अंग नहीं बनी। इसलिए जब-जब सरकार बदली तो लोगों ने उसकी कभी चिंता नहीं की। किन्तु आज हर चीज सरकार द्वारा दी जाती है। प्रार्थना और आवेदनपत्र, स्मृतिपत्र और प्रस्ताव, आत्मीय विरोध और निरर्थक क्रोध आज प्रतिदिन देखने में आते हैं। राज्य, जो केवल एकता का प्रतिक था, आज सब कुछ बन गया है।

रबीन्द्रनाथ यह अनुभव करते हैं कि उस आध्यात्मिक आदर्श और भौतिक आदर्श का एक-दूसरे के संघर्ष है, उनके बीच बड़ा अंतर है। पूर्व की सभ्यता, जो धार्मिक है धर्म-निरपेक्ष नहीं, उसे अपनाकर हमारे लिए भगवान् के दरबार में प्रवेश करना आसान है। पूर्व में बिलकुल ही नहीं, फिर भी मुख्य रूप से संग्रह की अपेक्षा जीवन, बुद्धि की अपेक्षा स्वतंत्रता पर अधिक जोर है। भरत इस आदर्श का प्रतिनिधित्व करता है, इसी कारन रबीन्द्रनाथ भारत के सपूत होने में गौरव का अनुभव करते हैं। 'मैं भारत में गरीबी,

दु:ख और पिछड़ापन होते हुए भी बार-बार यहीं जन्म लूँगा, मैं भारत को सबसे ज्यादा प्रेम करता हूं।'

'मेरा जन्म सार्थक हुआ, क्योंकि मैंने इस देश में जन्म लिया
मां, मेरा जीवन सार्थक हुआ, क्योकि मैंने तुझे प्यार किया !
मैं नहीं जानता कि तेरे पास इतना धन और सम्पत्ति है या नहीं
जिससे तू रानी बन जाय य मैं तो इतना जानता हूं कि तेरी छाया के तले
खड़े होकर मेरे शरीर की सारी थकावट दूर जो जाती है !
मैं नहीं जानता कि किस कुंज में ऐसे फूल खिलते हैं, जिनकी
सुगंध आत्मा को पागल बना देती है। मैं ऐसा आकाश नहीं जनता
जहाँ चन्द्रमा ऐसी मधुर मुस्कराहट के साथ उदित होता हो।
मेरी आँखें पहले-पहल तेरे प्रकाश में खुलीं और अंत में उसी
प्रकाश में बंद होंगी!'

रबीन्द्रनाथ को उनके साथ कोई सहानुभूति नहीं, जो ऐसी ही वास्तु की, जो पुरानी और सुस्थापित हो, खिल्ली उड़ाये, और तिरस्कार करें और भारत के अतीत को अंधकार और अकर्मण्यता को एक लम्बा युग समझें। नहीं वे उन लोगों से सहमत हैं जो बड़ी आसानी और लापरवाही के साथ हर पुरानी और परम्परागत वस्तु की पूजा करते हैं और उतनी ही कट्टरता से नई और बिना आजमाई हुई वस्तु से परहेज करते हैं। किन्तु जब शिक्षित भारतीय नवीन प्रवर्तन के प्रवाह में बहकर अपने अधिक सचेत भाइयों की ओर घृणा और तिरस्कार के भाव से देखते हैं और उन्हें प्रगति का शत्रु मानते हैं। ... और जब यह प्रवृति अपनी सीमा से बाहर होकर लड़ाकू और आक्रमणकारी बन जाती है, उस समय रबीन्द्रनाथ उन्हें सावधान और शान्त होने तथा धीरज रखने और आत्म-निरिक्षण करने की सलाह देना अपना कर्तव्य समझते हैं य किन्तु वह ऐसे पुराणपंथी नहीं हैं कि वह किसी भी प्रकार की दकियानूसी चीज को केवल इसलिए कि वह चमकीली और रंगीन है, अपनायें। उनके लिए प्रगति और सुधार का अर्थ है, प्राचीन आदर्शों की सुरक्षा और उन्हीं के आधार पर समाज का नवनिर्माण। भारतीयता की रक्षा करते हुए हम पश्चिम में जो भी अच्छा और उत्तम है, उसे ग्रहण कर सकते हैं। रबीन्द्रनाथ प्राचीन और नवीन, पूर्व और पश्चिम की समन्वयात्मक एकता की मांग करते हैं। 'यह एक भिखारी की वृत्ति है कि हम अपना फैंक दें और जो विदेशी है उसके लिए हाथ पसारें।' और उसके साथ ही 'यह गरीबी का क्षुद्र लक्षण है कि विदेशी वस्तु का तिरस्कार कर हम अपने को छोटा बनाये रखें।' रबीन्द्रनाथ कहते हैं कि 'मरे हुए की शरण लेना स्वयं अपनी मृत्यु है और जीवन के लिए आखिरी क्षण तक जोखिम उठाना ही जीना है।' सभ्यताओं के सम्पर्क में आया, उसने अपने बुनयादी आदर्शों को न छोड़कर, उनमें जो भी अच्छाईयाँ थीं, अपने में खपा लीं। हम दूसरों से जो

कुछ भी ग्रहण करते हैं, उसे अपने जीवन और अपनी आवश्यकताओं के अनुसार बना लेना होता हो। भारत की अपनी विशेषता, अपना जीवन और अपनी आत्मा है। वह आधुनिक तरीकों और प्रवृत्तियों को एकत्र करने मात्र से नहीं, बल्कि उन्हें अपने में खपाकर ही मजबूत और शक्तिशाली बन सकता है। वह जिस पर भी अपना हाथ रखता और जिसे भी स्वीकार करता है, उस पर उसे अपनी प्रतिभा की चाप डालनी चाहिए, अन्यथा उसका कार्य रचनात्मक नहीं, पुरावर्तन-मात्र होगा। इतिहास के आरम्भ से आत्मसात् करने की समन्वयात्मक प्रवृति भारत की एक विशेषता रही है। जब आदि आर्य सबसे पहले हिमालय की तलहटी में बसे, तब द्रविड़ सभ्यता बहुत हद तक अपनाली गई। 'किन्तु किसी को यह कल्पना करने की आवश्यकता नहीं कि अनारयों ने भारतीय जीवन के प्रति किसी प्रकार का योगदान ही नहीं दिया है। उनके सम्पर्क ने हिन्दू सभ्यता के रूप में विविध रंग और उसकी आत्मा को गहराई दी है। द्रविड़ धार्मिक्तावादी नहीं था, किन्तु वह कल्पना, संगीत और निर्माणकला में कुशल था। ललित कला में वह निपुण था। आर्यों के विशुद्ध आध्यत्मिक ज्ञान और द्रविड़ों के भावुक सवभाव तथा सौन्दर्यशास्त्र के निर्माण की शक्ति के मेल से ऐसा सुन्दर संयोग बना, जो न आर्य रहा और न अनार्य, वह हिन्दू बन गया।' बाद में जब बौद्धमत हिन्दुधर्म से मिल गया, तब भी वही प्रक्रिया हुई। हिन्दुधर्म ने सभी विदेशी प्रभावों को, जो प्रत्येक नये आक्रमण के साथ बाहर से आये, आत्मसात् कर लिया और उन्हें अपने आदर्शों के अनुकूल बना लिया। भारत ने विदेशी प्रभाव का सदा स्वागत किया है। हिन्दूधर्म चिर प्राचीन और चिर नवीन रहा है। वह उत्पादक और रचनात्मक दोनों रहा है। 'राष्ट्र के स्वावलम्बन की शक्ति पर आप सन्देह न कीजिये, यह निश्चित जानिये कि अब समय आ गया है। याद रखिये कि किस तरह भारत ने सबको मिलाने की अपनी शक्ति को सदा कायम रखा है। उसने सदा अनेक कठिनाईयों और संघर्षों के बीच एक सामंजस्य स्थापित किया है और इसलिए आज भी वह जीवित है। मुझे उस भारत में पूरा विश्वास है। अभी भी वह भारत प्राचीन और नवीन व्यवस्था के बीच धीरे-धीरे मेल बिठा रहा है। हम सबको ज्ञानपूर्वक इस कार्य में लग जाना चाहिए तथा मेरी यह प्रार्थना है कि हम जड़ता अथवा विद्रोह की आड़ में इस प्रवृति का कभी विरोध न करे।' यदि भारतीय राष्ट्रीयता को जीवित रहना है और लकीर का फकीर नहीं बनना तो उसे अपने को अन्दर से सबल होना चाहिए। उसकी आशाएं उसी के अन्दर निहित है। महान् भारत की बुनियाद और आधार उसकी आत्मा के स्वास्थ्य और अपने राष्ट्रीय जीवन के लिए पुन: आत्मविश्वास प्राप्त करने में है। यदि भारत अपनी आत्मा की शक्ति और आध्यात्मिकता को पुन: अपना ले, जो उसके जीवन का रहस्य है, तब संसार की कोई ताकत इस नवीन शक्ति पाये हुए भारत के विरुद्ध नहीं टिक सकती। यदि उसकी आत्मा ही रोग-ग्रस्त है तब जर्जरित होकर उसकी मृत्यु अवश्यंभावी है, भले ही उसे बचाने के लिए हम बाहरी उपाय

क्यों न करें, किन्तु यदि उसकी आत्मा स्वस्थ है, तो वह विपत्ति का सामना कर सकेगा, विनाश को रोक सकेगा और सभी बाह्य विरोधों के रहते हुए अपनी प्रतिष्ठा पुनः स्थापित कर सकेगा। उसे दबाने की किसी में शक्ति नहीं। आत्मा के वेग के विरुद्ध कोई भी शक्ति ठहर नहीं सकती। आदर्शों की शक्ति के साथ किसी भी राष्ट्र की आत्मा को जीता नहीं जा सकता। यदि भारतीयों की आत्मा में यह विश्वास अविचल रहेगा, तो एक दिन भारत का पुनरुदय अवश्य होगा।

उपनिषद् ने कहा है— 'बलहीन इस आत्मा को प्राप्त नहीं कर सकते।' आत्मा को स्वस्थ रखना बड़ा कठिन कार्य है। इसके लिए हमें बड़े कठिन समय से होकर गुजरना पड़ सकता है। इसके लिए शायद हमें 'अपने माता, पिता, पत्नी और बच्चों को भी छोड़ना पड़े।' जिस ऊँचाई पर हम चढ़ना चाहते हैं, इस भौतिक दृष्टिकोण के साथ वहाँ पहुंचने में चक्कर आ सकते हैं और वह चढ़ाई हमें भयंकर लग सकती है। हम गिर सकते हैं। -पहली चढ़ाई में तो यह निशिचत है— किन्तु ऐसे पतन भारत की उन्नति के लिए आवश्यक है। यह विचार कितना ही भयावह क्यों न हो, असम्भव नहीं है, क्योंकि भारत की आत्मा अभी मरी नहीं है, वह सोई भले ही हो। उसके हृदय की गति धीमी पड़ती जा रही है, पर अभी वह बंद नहीं हुई। हमने आध्यात्मिक जीवन की शिखा को इतने वर्षों की मुसीबतों और कठिनाइयों के बावजूद मन्द होते हुए भी अभी जलाये रखा है। अध्यात्म के इस आत्मबल ने, जिसे हमने युगों की सादगी के द्वारा प्राप्त किया है, संसार के बाहरी आक्रमणों से भारतीय सभ्यता को बचाए रखा है। ईश्वर अयोग्य राष्ट्रों को रबीन्द्रनाथ टैगोर जैसे महापुरुष नहीं देता। उनकी उपस्थिति इस तथ्य का प्रत्यक्ष प्रमाण है कि जिन आदर्शों के लिए भारत जीता है, वे अभी ओझल नहीं हुए और उसके गीत मौन नहीं हुए। ऊँचे विचार अभी भी उसे हिला देते हैं और वे उसके जीवन की प्रेरणा तथा कविता के श्वास है। रबीन्द्रनाथ को भारत के उज्जवल भविष्य में पूरा विश्वास है और वह उस ज्वलंत आस्था से, जो भविष्य-वक्ता को उत्तेजित करती है, प्रेरित होकर कह उठते हैं, 'क्या सम्पूर्ण देश और हमारी जीती के प्रत्येक सदस्य के बीच दैनिक कड़ी जोड़ने के लिए 'पांचजन्य' के महान् विचारों का उपयोग असम्भव है? क्या हममें से प्रत्येक व्यक्ति अपने देश के नाम पर एक पैसा या एक मुट्ठी चावल का दान नहीं कर सकता? क्या हिन्दूधर्म हम सबको, जीवन के प्रत्येक देवस को भारत के प्रति भक्ति के सीधे बंधन से बांध नहीं सकता? क्या इस स्वर्गीय भूमि भारतवर्ष के साथ, जहाँ परमात्मा का निवास है, हमारा सम्बन्ध प्रत्येक को एक निजी नेह की कड़ी से नहीं जोड़ सकता?'

(4)

भौतिकवाद की जो लहर आजकल देश भर में आई है, उसे रोकने के लिए यह आवश्यक है कि हम अपनी शिक्षा के आदर्शों में उचित परिवर्तन करें। आधुनिक शिक्षित भारतीय

पश्चिम की एक झूठी नकल-मात्र है। उसकी आवाज केवल एक प्रतिध्वनि है, उसका जीवन एक उद्धरण, उसकी आत्मा केवल मस्तिष्क, और उसकी स्वतंत्र आत्मा वस्तुओं की दास-मात्र है। रबीन्द्रनाथ इन आधुनिक शिक्षितों को देखकर इतने उत्तेजित हो जाते हैं की वह फूट पड़ते हैं रू ' हमारा देश वास्तव में भगवान् के भरोसे है। अपनी इच्छाशक्ति को सुरक्षित रखना हमारे लिए वास्तव में कठिन हैद्य वास्तव में हमें कोई सहायता नहीं मिलती। मीलों तक ऐसा कोई नहीं, जिससे बात कर हमें शक्ति मिले। कोई भी व्यक्ति सोचता हुआ, अनुभव करता हुआ या काम करता हुआ नहीं दिखाई देता। किसी को भी महान् प्रयत्नों का अनुभव नहीं और न ही वास्तविक और सच्चे जीवन का। वे खाते-पीते, मौज करते हैं, दफ्तर का काम करते हैं, धुआं उड़ाते हैं, सोते हैं और निरर्थक बातें करके दिन गंवा देते हैं। जब भावना का स्पर्श होता, है तो भावुक बन जाते हैं और जव वे तर्क करते हैं तब उनमें छिछोरेपन होता है। आज एक पूर्ण परिपक्व, सुदृढ़ और सुयोग्य व्यक्तित्व की हम चाहना करते हैं, ये सब इतनी तरह की छाया है, जो संसार से अछूती रहकर इधर-उधर घूमती हैं।' पश्चिमी शिक्षा की यह उपज मानव समाज नहीं, उसकी चाय-मात्र है। आधुनिक शिक्षा ने गुलाम मस्तिष्क का विकास किया है। डॉ. कुमारस्वामी के साथ हम यह कह सकते हैं, 'वे कला का संग्राहलय और कवियों में, ज्ञान को पुस्तकालयों तथा पुस्तकों की दुकानों में, धर्म को रविवारीय धर्म-सम्मेलनों और धर्मशास्त्रों में और संगीत को ग्रामोफोन तथा नाटक घरों में खदेड़ देने में सफल हुए हैं। 'भारत की प्रगति इतनी मानव-जीवन में नहीं, जितनी नीली पुस्तकों (blue Books) में दिखाई देती है। शिक्षित भारतीय अपने-आपको सस्ती और कष्टप्रद नकल बनाकर अपने शिक्षा-प्रदाता से बदला ले रहा है। सच्ची शिक्षा मानव-सवभाव की गहराई में से प्रस्फुटित होनी चाहिए, किन्तु आज का शिक्षित भारतीय अपने भूतकाल, अपनी प्राचीन अविस्मरणीय परम्पराओं, प्रेम और संयम से अलग हो गया है जो अपने वंशजों और देश से बांधे रखते हैं। आज जो शिक्षा दी जा रही है, वह मानव को पूर्ण नहीं बनाती। आधुनिक स्कूल एक कारखाने के सामान है, 'जो एक-सी वस्तुओं को गढ़ने के लिए विशेष रूप से बनाया गया हो।' व्यक्ति गत विविधताओं का कोई हिसाब ही नहीं रखा गया। असंख्य प्रकार के मानव-मस्तिष्कों की मानसिक आवश्यकता के लिए एक ही प्रकार की प्रणाली काम में लाई जाती है। आत्मा के विकास आया उदार विचार के लिए कोई स्वतंत्रता नहीं। धार्मिक और कलात्मक तथा नैतिक और आध्यात्मिक पहलू वैज्ञानिक सूत्रों और सामाजिक कानूनों में डूब जाते हैं। मस्तिष्क या यंत्रीकरण और बौद्धिक बीज-भूमि की अनुर्वरता आज की शिक्षानीति की निरंकुशता का परिणाम है। बौद्धिक दृष्टि से भी इस प्रणाली से शिक्षा पाया हुआ व्यक्ति आदर नहीं पाटा। हम यह नहीं कह सकते कि उसमें ज्ञान के लिए उत्साह, अपनी संस्कृति के लिए मान, या किसी भी प्रकार के स्वतंत्र विचार के लिए प्रेरणा होती है। परीक्षाओं की योजनाएं उसके मन को विकृत कर

देती हैं। वह सचाई जानने की परवाह नहीं करता, उसे चिंता होती है केवल अधिक नंबर प्राप्त करने की। उसके अध्ययन का प्रमुख ध्येय ज्ञान की प्राप्ति नहीं, परीक्षा में सफलता पाने के लिए ज्ञान प्राप्त करने का होता है। विद्यार्थी-जीवन में ही उसकी दृष्टि अपने भावी जीवन पर होती है और उसकी महत्त्वाकांक्षाएं उसके अध्ययन में बाधा पहुंचाती हैं। वह जनता है कि भारत में केवल क्लर्क और मिस्त्रियों के लिए ही एक धंधा है। यहां बुद्धि के लिए न कोई बड़ा क्षेत्र है और न ही स्वतंत्रता से सांस ले सकती है। इसमें कोई आश्चर्य नहीं कि वह अपने-आपको परिस्थितियों के अनुकूल ढालता है।

वर्तमान भारत को उसके महान् साहित्य में छिपी मानव की आत्मानुभूति की गहरी व्याख्या नहीं समझाई जाती। भारतीय वंश-परम्परा के आंतरिक आध्यात्मिक जीवन के वृतों की उपेक्षा होती है। महान् साहित्य के समान कुछ भी ऐसा नहीं, जो शक्ति को जगा दे, अध्यात्मिक प्रेरणा की ज्योति जला दे, और आत्माओं को धनुष की तरह तान दे। भारतीय मन और उसकी कल्पना को उभारने वाली और स्फुरित करने वाली, उसके प्राचीन साहित्य से बढ़कर शक्तिशाली और कोई वस्तु नहीं। इससे आधुनिक शिक्षित भारतीय एकदम अनजान है। भारतीय बच्चे अपने अतीत को भूल रहे हैं, और वे अपनी ही प्रकृति को समझने में असमर्थ हैं, ' वे ओनके प्राचीन इतिहास के शिखरों से बहने वाले श्रोत को रोके खड़े है,' जिसने उसकी संस्कृति को सौन्दर्य की समृद्धि और शक्ति से इतना उपजाऊ बनाया है।

अतीत में भारत के पास जो आदर्श था, उसे ज्यों-का-त्यों न सही, तत्व-रूप में फिर से प्राप्त करना चाहिए। श्रेष्ट शिक्षा वह नहीं, जो केवल जानकारी दे। सच्ची शिक्षा वह है, जो हमारे जीवन और वातावरण में सामंजस्य स्थापित करे। ''शिक्षा का उद्देश्य मनुष्य को सत्य की एकता देना है। पहले जब जीवन सादा था, मनुष्य का एनी सब बैटन में एक-दूसरे से पूरा मेल था। किन्तु जब बुद्धि आत्मा और शरीर से पृथक् हो गई, तब शिक्षा का सारा ध्यान मनुष्य के बौद्धिक और शारीरिक विकास की और रह। हम यह जाने बिना कि इस प्रकार करने से बौद्धिक, शारीरिक और अध्यात्मिक जीवन के बीज तनाव बढ़ता जाता है, अपने बच्चों को ऐसी शिक्षा दिये चले जा रहे हैं।' किन्तु आध्यात्मिक जीवन का विकास किस प्रकार हो! यह ईश्वर और उसके अस्तित्व के विषय में सुनिश्चित पाठों को पढ़कर नहीं, वरन् सबको अपने-आप और अन्त प्रेरणा जगती है और अध्यात्मिक जीवन का विकास होता है। 'प्रत्येक श्वास के साथ हमें सदा इस सत्य का अनुभव करना चाहिए कि हममें परमात्मा का निवास है।' प्राचीन भारत में यह सम्भव था य क्योकि आश्रम में जहाँ के शिक्षक ऐसे थे, जो प्रत्येक क्षण ईश्वर के अस्तित्व का अनुभव करते थे और उसी के लिए जीते थे। इसलिए उनके विद्यार्थी भी ईश्वरीय सत्ता का अनुभव उसी तरह करते थे, जैसे वे पृथ्वी की हरियाली या आकाश की नीलिमा का। जिस शिक्षा का उद्देश्य आत्मा का

विकास और मानव को उसके आन्तरिक संघर्षों से मुक्त करना है, वह जीवन, स्वास्थ और आत्मा की बरबादी से, जो देश में प्रतिदिन हो रह है, उनकी आँखें खोलेगी, उन्हें अवसर की सम्पूर्ण अवसरवादिता का दर्शन कराएगी और तब हर तरह के अन्याय से लड़ने के लिए हृदय में साहस और मन में शक्ति पैदा करेगी। अपने बोलपुर-विद्यालय नहीं है अपितु कला और संस्कृति का भी पुण्यधाम है, रबीन्द्रनाथ शिक्षा के आधुनिक प्रयोगों को प्राचीन भारत के आत्मिक संस्कार के आदर्शों से मिला रहे हैं। उनकी दृष्टि से आदर्श विद्यालय एक आश्रम होना चाहिए जहाँ मनुष्य जीवन के उच्चतम लक्ष्य के लिए एकत्र होते हैं, प्रकृति के शांत वातावरण में रहते हैं य जहाँ जीवन केवल ध्यान-धरना के लिए नहीं, वरन् विविध प्रवृतियों से पूर्ण है य जहाँ लड़कों से मस्तिष्क केवल इसी विचार से अन्हीं भरे रहे की राष्ट्र का आदर्श संकीर्ण देशभक्ति को एही प्रोत्साहन करना है और वही उनके लिए स्वीकार करने युग्य हैय जहाँ उन्हें यह अनुभूति होती है कि मनुष्य का संसार ही ईश्वर का साम्राज्य ही, जिसकी नागरिकता के लिए उन्हें प्रयत्न करना है। जहाँ प्रतिदिन सूर्योदय और सूर्यास्त, तारों की मौन दुयता का ध्यान रहता है। जहाँ प्रकृति के खिलते फूलों और फलों के उत्सवों से मनुष्य उल्लसित होता है, और जहाँ युवा और वृद्ध, शिक्षक और विद्यार्थी एक ही साथ खाना खाते हैं और एक ही साथ आध्यात्मिक जीवन का भोजन भी पाते हैं।।

क्षेत्रीय भाषाएँ शिक्षा का माध्यम होनी चाहिए। यह गम्भीरता-पूर्वक नहीं कहा जा सकता कि सारे भारत की सामान्य भाषा अंग्रेजी हो। यदि यह संभव भी हो तो भी वांछनीय नहीं है। हम अंग्रेजी भाषा में किसी महान् साहित्य के विकास की बात नहीं सोच सकते। वर्तमान शिक्षित वर्गों की बहुत-सी कुत्रिमता और उनमें अत्यधिक खपा लेने की प्रतिभा होते हुए भी मौलिकता का जो अभाव है, वह दो भाषाओं में विचार करने की श्रुटि के कारन है। 'हमारी आज की विदेशी शिक्षा केवल स्कूल या कालेजों की शिक्साह बनकर रह जाती है। वह 'साइनबोर्ड' की तरह टंगी रह जाती है, हमारे जीवन का एक अंग नहीं बन पाती या फिर हमारी नोटबुकों में लिखी रह जाती है, विचार और क्रिया में नहीं समा पाती।' रबीन्द्रनाथ सोचते हैं कि प्रारंभिक वर्षों में अंग्रेजी सिखने पर जोर देना, समग्र शिक्षा-पद्धति की जड़ को ही काट देना है और इससे बधे अपने दैनिक जीवन में थकान और नीरसता का अनुभव करने लगते हैं। वह कहते हैं, 'शिक्षा को जहाँ तक हो सके, भोजन की प्रक्रिया की तरह अपनाना चाहिए। जब पहले ही कौर में स्वाद आने लगता है, तब पेट भरने से पहले ही वह पाचन-क्रिया के लिए तैयार हो जाता है और इस तरह पाचन-यन्त्र अपना काम पूरी तरह करता है। किन्तु जब बंगाली बच्चे को अंग्रेजी में शिक्षा दी जाती है, तब ऐसा नहीं होता। पहला ही कौर मुहँ में जाते ही दोनों जबड़ों को हिला देता है, मानो मुहँ में भूकम्प सा आ गया हो, और जब तक उसे पता लगता है कि जो उसने मुंह में डाला है पत्थर नहीं, सुपाच्य खाद्य पदार्थ है, जब तक उसकी आधी उम्र बीत चुकी होती है। आरम्भ में व्याकरण और

स्पेलिंग से जी घुटता रहता है और सारा समय इन्हीं से जूझने में बीतता है और आन्तरिक ज्ञान की दृष्टि से वह भूखा रहता है। जब अन्त में भाषा में उसकी रुचि पैदा होती हो, तब तक उसकी भूख मिट गई होती है। यदि आरम्भ में मन पूरी तरह काम नहीं करता, तो मानसिक शक्तियाँ सदा के लिए अविकसित रह जाती हैं।' कविवर ने अपनी सारी कृतियाँ पहले बंगला में लिखीं और उसके बाद उनमें से कुछ का अनुवाद अंग्रेजी में किया। अंग्रेजी उनकी दूसरी भाषा थी, किन्तु हमारे स्कूलों में क्षेत्रिय भाषाएँ शिक्षा का माध्यम नहीं, अत: शिक्षित और अशिक्षित वर्ग को जन्म दिया है, जो जनसाधारण के दृष्टिकोण से एकदम अपिरिचित है। इस शिक्षा ने उन्हें विचार दिये हैं, जिन्हें वे पूरा नहीं कर सकते, क्योंकि वे नहीं जानते कि उन्हें पूरा किस प्रकार किया जाय। यह अभियोग कि यह शिक्षित वर्ग भारतीय जनता का सच्चा प्रतिनिधि नहीं, निराधार नहीं कहा जा सकता। शिक्षित लोग यह अनुभव करते हैं कि वे पृथक् वर्ग है। उनके परम्परागत विचार अस्थिर और धार्मिक धारणाएँ शिथिल हैं। उनमें 'यूरेशियन' मनोवृत्ति आ गई है, यद्यपि हमारे जनसाधारण हिन्दुस्तानी है। कांग्रेस और सभाओं में अंग्रेजी भाषा प्रमुख होती है। अंगेजी जानने वाले व्यक्ति के साथ अच्छा और आदरपूर्ण व्यवहार होता है। सरकार को आवेदन-पत्र देने में वे बहुत कुशल हैं, किन्तु अपने देशवासियों में उद्देश्य, इच्छा और भावना की एकता जगाने में जो राजनैतिक प्रयास के लिए अधिक आवश्यक है, वे इतना उत्साह नहीं जताते। लोगों के हृदय को स्पर्श करने का सच्चा रास्ता यह होगा कि क्षेत्रीय भाषाओं को ज्ञान के विस्तार का साधन बनाया जय। भारत के हर कोने में इस शुभ समाचार को पहुँचाने का एकमात्र यह उपाय है। यदि हम पवित्र संस्कृत भाषा और भारत की एनी सुन्दर भाषाओं को सुरक्षित नहीं रखेंगें, और उपयोग द्वारा उनका विकास नहीं करेंगें, तो उच्च भारतीय जीवन के स्रोत ही सुख जायेंगे।

कला और उद्योग, सौन्दर्य और उयोग के पुनर्जीवन के लिए धार्मिक भावना के पुनरुद्धार की आवश्यकता है। मशीनें भारतीय उद्योगों का स्थान ले रही हैं। यद्यपि रवीद्रनाथ मशीनों की स्थापना के विरुद्ध नहीं हैं, फिर भी जिस भावना से उनका उपयोग होता है और इसके जो परिणाम होते हैं, उसकी वह निंदा करते हैं। 'एक सम्पूर्ण संकल्प' (ए रिजोल्व एकाम्पलिशड) की कहानी में मशीन द्वारा हाथकरघे का स्थान ले लेने के सम्बन्ध में जो लिखा गया है उसके सन्दर्भ में वह इस प्रकार कहते हैं, 'किन्तु कुछ दूषित आत्माओं ने, जो मानो समुद्र की लहरों से उठ खड़ी हुई हों, बेचारे करघों पर अंगारे बरसा दिये। उन्होंने गरीब बुनकरों को भूखों मार डाला और उस समय जो मशीनों से सिटी बजती थी,' जबकि उन्हें यह विश्वास है कि भारत में औद्योगीकरण होना चाहिए, वह मानते हैं कि भारत में औद्योगीकरण की बुराइयों का प्रवेश नहीं होना चाहिए। वह समझते हैं कि पूर्वीय विचारधारा का पश्चिमी सभ्यता के यन्त्रवाद से मेल हो सकता है।' 'पूर्व में हमने भौतिकवाद की अवहेलना का प्रयत्न किया, भूख और प्यास की परवाह नहीं की ताकि

उनके अत्याचारों से बच सकें और अपना उद्धार कर सकें, किन्तु अब यह कम-से कम सरे राष्ट्र के लिए तो सम्भव नहीं। पश्चिम में आपने भौतिक जगत् पर विजय पाने का निश्चय किया है, और विज्ञान का पवित्र कार्य सभी मनुष्यों को उनकी भौतिक अव्यश्क्ताओं की पूर्ति के लिए भरपूर साधन जुटाने में समर्थ बनाना है और भौतिकता को अपने अधीन करके आत्मा की स्वतन्त्रता प्राप्त करना है। पूर्व को भी उसी रस्ते पर चलना होगा और पानी सहयता के लिए विज्ञान का सहारा लेना होगा।' हमें जिस बात से अपने-आपको बचाना है वह है कला को उद्योग से अलग करने की लालसा। हमें यह देखना चाहिए कि कहीं हम मशीन के कारण अपने आत्मिक और चारित्रिक विश्वास को न खो बैठें। यदि हम कला को उद्योग से और धर्म को जीवन से विलग करने की पश्चिमी प्रवृति की नकल करेंगे, तो भारत को औद्योगीकरण के इस युग की बुराइयों को सहना होगा, जो उसके भारी हाथों द्वारा पुरानी कड़ियों को तोड़कर नई जंजीरों को निमंत्रण देना जैसा होगा। गन्दी बस्तियों का जघन्य जीवन, बेकारी, श्रम के लम्बे घंटे, और शराबखोरी- सभी का भारत की भूमि पर आगमन होगा। किन्तु यदि भारतीय दृष्टिकोण अपनाया जय कि आर्थिक, बौद्धिक और सामाजिक सभी प्रकार के जीवन में धार्मिक भवन का प्रतिबिम्ब पड़े तो कला और उद्योग साथ-साथ चलेंगें और भारत निर्जीव कलाविहीन औद्योगीकरण से बचा रहेगा। प्राचीन भारत में मनुष्यों ने जो कुछ भी बनाया, वह कुशलतापूर्वक बनाया और अपने आपको भूलकर बनाया य क्योंकि परिश्रम का आनन्द वे जानते थे, ऐसा परिश्रम, कला ही जिसकी अभिव्यक्ति है। तब सभी कामों में उत्पादक शक्ति और अभिव्यक्ति की इच्छा को परितुष्टि मिलती थी। अब वे जीवन का आनन्द भूल गए हैं। उनके व्यवहार का अत्यधिक भद्दापन और कला की पशुता मन की गलत स्थिति के परिचायक हैं। वह इसलिए होता है, क्योंकि जो काम एक मजदूर करता है, वह उसकी रूचि की अनुकूल नहीं होता, क्योंकि उसमें उसका मन और उसकी बुद्धि का उपयोग नहीं होता, उसकी आत्मा का हनन होता है, उसका जीवन कटु बन जाता है और उसकी क्षमता क्षीण हो जाती है। आधुनिक भारतीय कला की आलोचना करना व्यर्थ होगा। हमें वतर्मान जीवन और समाज की स्थितियों की आलोचना करनी चाहिए, जिन्होंने इसे सम्भव बनाया है। यदि गर्मी और धुल पक्षियों के उन्मुक्त गाने में बाधक होते हैं तो हम पक्षियों का दोष नहीं दे सकते। इसमें सन्देश नहीं कि ब्रिटिश सरकार प्राचीन सम्पर्कों इत्यादि को सुरक्षित रखने के लिए बहुत-कुछ कर रही है, किन्तु इस तरह वे जड़ वस्तुओं को सुरक्षित रखने का यत्न कर रहे है, किन्तु इस तरह वे जड़ वस्तुओं को सुरक्षित रखने के लिए बहुत-कुछ कर रही हैं किन्तु इस तरहा वे जड़ वस्तुओं को सुरक्षित रखने का यत्न कर रहे हैं। उत्पादक कल्पना को, जिस पर कला का विकास निर्भर है, बुद्धि के असंतुलित विकास ने मौन कर दिया है, जो थोथे सूत्रों और शुष्क धारणाओं में ही प्रकट होती है। आधुनिक शिक्षा द्वारा प्राप्त बौद्धिक उत्तेजना उसे जीवन

प्रदान नहीं करती है। उसका परिणाम यह होता है कि मनुष्य का मन भौतिकवादी और उसके जीवन का दृष्टिकोण व्यापारी बन जाता है। सौन्दर्य, जीवन और आत्मशक्ति का स्थान सस्तेपन, उपयोगिता और व्यापारी मनोवृत्ति ने ले लिया है। किन्तु यदि धार्मिक भृत्य यह यद् रखें कि उद्योगों में भी जीवन होना चाहिए, मिलों और कारखानों की बनी चीजें केवल उपयोगी ही नहीं, सुन्दर भी जोनी चाहिए और वे शरीर की भौतिक आवश्यकताओं को ही संतुष्ट न करें, बल्कि आत्मा की आध्यात्मिक आवश्यकताओं को भी पूर्ती करें, तब कला राष्ट्रीय जीवन की प्रेरणा का स्थान ले सकेगी और उसमें सौंन्दर्य भर सकेगी। विलियम मौरिस का कथा है, ' मैं आपसे यह विश्वास करने के लिए कहूंगा कि प्रत्येक वस्तु जो उस वातावरण को, जिसमें हम रहते हैं, बनाने के बाहर जाती हैं, या तो सुन्दर होनी चाहिए या भद्दी, ऊँचा उठाने वाली होनी चाहिए या हमें गिरने वाली। या तो उसके बनाने वाले को उस बनाने के थकावट और बोझा महसूस होना चाहिए या आनन्द और सान्त्वना मिलनी चाहिए।' मनुष्य की यह धारणा सामान्य अन्त: प्रेरणा होती है कि वह उन वस्तुओं से घिरा रह, जिनसे वह आनन्द प्राप्त कर सकता हो और जिनसे वह सन्तुष्ट होता हो, किन्तु अब हम ऐसी उपयोगी वस्तुओं से घिरा रहे, जिनसे वह आनन्द प्रापर्ट कर सकता हो और जिनसे वह सन्तुष्ट होता हो, किन्तु अब हम ऐसी उपयोगी वस्तुओं से घिरे होते हैं, जो आखों को चुभती हैं। उद्योग का उद्देश्य कलात्मक उत्पादन का होना चाहिए कि उसका कर्तव्य उस वस्तु को उपयोग करने वाले की केवल शारीरिक आवश्यकताओं की पूर्ती नहीं, उसके आध्यात्मिक कल्याण के प्रति कुछ योगदान देना भी है। तभी हम जीवन में काम के महत्त्व को समझ सकते हैं। तब श्रम आनन्द, आशा और विश्वास के सस्थ हो सकेगा और आत्माभिव्यक्ति का कारण बनेगा। अपनी उत्पादक प्रेरणा को काम में लाकर उसके लिए काम नीरस होने के बदले आनन्द और मनोरंजन का साधन बन जायगा। संस्था आत्मा के हनन के बदले आन्तरिक सौन्दर्य को प्रकट करेगी, 'क्योंकि सौन्दर्य की ले अंतरात्मा है, जबकि उसका बाहरी स्वरूप है संस्था।'

आधुनिक भारतीय जीवन में कला के महत्व को भूल रहा है। कला जीवन के बंधे-बंधाये ढर्रे से मुक्त करने वाली महान् वस्तु है। यह हमें बहरी प्रभावों से अछूता रखती है। वह हमें उस परदे को चीर अन्दर झाँकने को बाध्य करती है, जहाँ वह शाश्वत हमारे अन्दर छिपा है। वह हमें उसका दर्शन कराती है। जहाँ वह शाश्वत हमारे अन्दर छिपा है। वह हमें उसका दर्शन कराती है। आज की कला, जिस पर भौतिक-वाद का धक्का लगा है और जिसमें उस शान और गरिमा की कमी है, आज की युग का दर्पण है, जिसका कोई केन्द्र बिन्दु नहीं, कोई स्थायी मूल्य नहीं, जो इस बुद्धिमूलक प्रवाह का विरोध कर सके या उसे रूक सके। पाशविक आवश्यकताओं की पूर्ती के अतिरिक्त आधुनिक भारत का जीवन सामाजिक सफलता और आर्थिक समृद्धि के लिए उत्सुकता और सतत संघर्ष का

जीवन है। जीवन में विक्रान्ति का कोई स्थान नहीं, महत्वाकांक्षा और लालसा के कारण केवल अनथक प्रयत्न करते रहना है। जीवन काम के अत्यधिक भार से दबा हुआ है। मनुष्य के पास पाशविक आनन्द के लिए तो समय है, किन्तु आध्यात्मिक उल्लास के लिए नहीं। यदि वह किसी की पूजा करता है तो वह है अर्थ, जिसे वह देवता मानता है। वह समझता है कि केवल वाही उसके जीवन को जीने-योग्य बनाता है। कला से अर्थ को अधिक मूल्यवान् मानकर वह यथार्थवाद के संसार में रहता है और आदर्शों को भूल जाता है। वह अपने ही घर में अजनबी बन जाता है। क्या इन परिस्थितियों में महान् कला का जन्म हो सकता है ! जल्दबाजी और शोरगुल के वारावरण में कला का निर्माण हो सकता है ! भारत की गरीबी एक दूसरी बाधा है। यदि हम खेल सकते हैं तो हमें काम करना छोड़ देना चाहिए। यदि हम अच्छी जिंदगी बसर कर सकते हों, तो हमें जीवन के विषय में चिंता करना छोड़ देना चाहिए। जब हम जीवन के अभावों और चिंताओं से इतने ग्रस्त हों तब अपने दृष्टिकोण और सतत योवन को ताजा कैसे रख सकते हैं ! जीवन के झंझटों में उलझकर, मनुष्य उस अदृश्य के विषय में क्षणभर सोच भी नहीं सकता, जो जीवन का मूल है। घड़ी की तरह बन जाता है, उस मशीन-जैसा हो जाता है, जो एक चालक शक्ति से चलती है और जो शीघ्र ही भुखमरी से बचने के लिए या सामाजिक मान्यता प्राप्त करने के लिए किये गए उद्योग के कारण थककर चकनाचूर हो जाती है।

यह कहा जाता है कि भारत प्रगति कर रहा है। यह स्वीकार किया गया है कि हमारे यहाँ अव्यवस्था और अराजकता, ठगी और डाका तथा पाप और खून-खराबी बहुत कम परिमाण में है। किन्तु हम यह नहीं कह सकते कि नैतिकता के सही शब्द की दृष्टि से हमारी उन्नति सच्ची है सीले ठीक ही कहते हैं: 'एक नगर जहाँ चित्र-दीर्घाएं, थिएटर और सुन्दर भवन न हों, जहाँ कोई काव्य की रचना न करता हो या उन्हें पढ़ता हो, अथवा जहाँ साहित्यक चर्चा न होती हो, मैं कल्पना करता हूँ कि वह एक वीरान, उदास स्थान से भी कहीं बदटार होता होगा। इस दृष्टि से सामान्यतया शायद उसका अनैतिक स्थान होना आवश्यक नहीं। यह आवश्यक नहीं कि उसमें चोरी और खून-खराबी की जो वारदातें होती हों, वह उतने ही बड़े किसी अन्य नगर की अपेक्षा अधिक हों। किन्तु ऊँची दृष्टि से मैं समझता हूँ कि वह अनैतिक होना चाहिए, उसका स्टार बहुत निम्न माना जायगा, वहाँ जीवन नीरस होगा और गुण शिथिल पड़ जायगा, अर्थात् प्रगतिहीन बन जायगा।' आज भारत के अनेक हिस्सों में जिंदगी इस प्रकार मलिन तुच्छ और आनन्द-विहिन है। जीवन और कला के पुनर्जीवन के लिए धार्मिक संचलन की आवश्यकता है। भारत एक सुन्दर देश था, क्योंकि वह प्रत्येक वस्तु, उसके आकार, अभिव्यक्ति और गति में परमात्मा के दर्शन करता था। यदि वह भावना पुनर्जीवित कर ली जाय, तो सम्पूर्ण जीवन एक ऐसी कला बन जायगा, जो सभी ओर से कलात्मक सम्भावनाओं के विकास के लिए हमें बाध्य करेगा।

(5)

हमारी उन राष्ट्रिय त्रुटियों में, जो भारत को उसकी उच्चतम मंजिल तक पहुंचने से रोकती हैं, अतिरंजित अलौकिकता की भावना और भाग्यवादिता है? यह पहले ही लिखा जा चूका है कि भारत की महान् आत्माएँ कैसे संसार की व्यावहारिक बातों की चिन्ता किये बिना, दत्तचित्त होकर आध्यात्मिक जीवन का विकास करती थीं। वे भूल जाते है कि मानविय साहचर्य ही मनुष्य को परमात्मा का सच्चा ज्ञान करा सकता है। 'आनन्द और व्यथा में मैं मनुष्य की शरण नहीं लेता, पर तेरी शरण में आता हूँ।' रबीन्द्रनाथ चाहते हैं कि जीवन की कला में हम व्यापक सामंजस्य और व्यापक व्यक्तित्व की भावना को अपनाएं, न कि एकांगी विरोधों को। तपश्चर्या और हठयोग ईश्वर की निन्दा करने के सामान है, जो सभी प्राणियों का रचयिता है। अपमानित प्रकृति हमसे बदला लेती है। अवकाश और सहज ध्यान तथा भक्ति के जीवन से बढकर बलिदान का जीवन है। इमर्सन के साथ हम कह सकते हैं, 'हमारा हाथ सदा कर्म के जगत् में होना चाहिए और हमारा सर झंझावात से ऊपर।' 'प्रभि, हमें प्रेम करने, पूर्ण प्रेम करने और अपने जीवन के सुख-दु:ख से, उसके लाभ-अलाभ से, उसके उतर-चढ़ाव से प्रेम करने की शक्ति दो! हमें बल दो कि हम संसार को देख और सुन सकें और उसमें पूरी शक्ति के साथ काम कर सकें!'

मध्ययुगीन भारत में, धर्म बहुत हद तक एक ऐसा मादक द्रव्य, एक ऐसी शक्ति था, जिससे मनुष्य अपने दु:ख भूल जाते थे! रबीन्द्रनाथ संसार से पलायनवाद की प्रवृति का विरोध करते हैं—

'नहीं, मेरे मित्रों, मैं घरबार छोड़कर कभी जंगल के एकान्त में वास करने नहीं जाऊँगा। ऐसे एकान्त में, जिसके प्रतिध्वनि पैदा करने वाले कुंजो में आनन्द की किलकारियाँ नहीं गूंजती, जहाँ केसरी ओढनी के आंचल हवा में नहीं उड़ते, और जहाँ की एकान्त शान्ति मेरे कान में चुपके-से कुछ नहीं कहती, वहाँ मैं कभी नहीं जाऊँगा।

मैं कभी सन्यासी नहीं बनूंगा।'

रबीन्द्रनाथ के अनुसार, धर्म प्रतिदिन के जीवन की प्रेरणा बन जाता है। वह उन लोगों को एक शक्ति प्रदान करता है, जो संसार में अन्याय से लड़ते हैं। उनका वैराग्य ऐसा झूठा आकारविहीन और नकारात्मक नहीं, जो बहुत समय से भारत में प्रचलित था। उनका वैराग्य तो साधु पुरुष की उस कठिन तीव्र तपस्या की तरह है, जो अपनी सौन्दर्य-दृष्टि से इसी धरती पर अधिक अच्छे संसार को, उसे त्याग करके नहीं, उसी में रहकर और कष्ट उठाकर, संघर्ष करके, सफलताओं द्वारा और मानवता के कल्याण के लिए काम करते हुए, उसे उज्जवल बना देता है।

कर्म में विश्वास को भाग्यवाद की परिभाषा मानकर भारतियों ने अपनी अन्त: सफुर्ति, लगन और प्रयत्न को खो दिया है। किन्तु कर्म मानव के अतीत का नाममात्र है और आत्मा

के रूप में मानव का उसपर अधिकार है:

भाग्य की तरह मुझे आगे कौन धकेलता है,

मैं स्वयं अपनी पीठ पर सवार होकर लम्बे डग भर रहा हूं।

अपने अतीत के प्रभाव से मनुष्य विधि की ओर अनिवार्य रूप से बढ़ता है। किन्तु मनुष्य अपने कर्मों की अपेक्षा अधिक बलवान् है। जबकि उसका शरीर और सम्पत्ति कर्म या आवश्यकता के कानून के अधीन हैं, मनुष्य का मन स्वतंत्र है। जब तक वह व्यर्थ की आशाओं और भी की दया पर जीता है, जब तक वह अपने-आपको श्रृष्टि से, जिसका वह अंग है, अलग मानता है और अपने हित को उससे अलग समझता है, तब तक वह बंधन में फँसा रहता है। जब विश्व में अपने स्थान को वह जान लेता हूँ और अपने जीवन में उसका अनुभव करता है, तब वह स्वतन्त्र हो जाता है। उसकी स्वतन्त्रता उसकी नि: स्वार्थता के अनुपात से घटती-बढ़ती है। मनुष्य में दिव्यता की चमक उसकी स्वतन्त्रता और रोमां रोलां के शब्दों में, 'भाग्यवाद, संकल्प-रहित आत्माओं का एक बहाना-मात्र है।' रबीन्द्रनाथ लिखते हैं— 'सम्भव असम्भव से पूछता है— 'तेरा निवास-स्थान कहाँ है?' उत्तर मिलता है— 'नपुंसकों के स्वप्नों में।' मनुष्य अपनी आत्मा का कप्तान है, और सभी को कर्मों का फल मानकर प्रयत्न छोड़ देना मुर्खता है।

रबीन्द्रनाथ हमें भारतीय आत्मा की महान् शक्तियों को अधिक ऊँचे उद्देश्य में लगाने को कहते हैं। संसार की सब शक्तियों में सबसे महान् वे हैं, जिनका वास जनता के हृदय और चरित्र में होता है। वह भारतीयों को अपनी समस्त शक्तियों को झूठे वैराग्य और भाग्यवादिता के वश में न करके देशहित में लगा देने का आवाहन करते है।

(6)

भारत की राजनैतिक स्थिति के विषय में रबीन्द्रनाथ के विचारों को बताये बिना यह रेखा चित्र अधुरा रह जायेगा। अच्छी सरकार के सभी लाभ होते हुए भी भारत स्वतंत्र नहीं कहा जा सकता। क्योंकि स्वतंत्रता का अर्थ जीवन से अलगाव या सामर्थ्य तथा इच्छा का विस्तार है। यह तभी हो सकता है जब हमारी अपनी सरकार हो, क्योंकि 'स्वाधीनता के अनुशासन और आत्म-रक्षा के साधनों से वंचित हैक्क, स्वतंत्र नहीं है। भारत की वर्तमान स्थिति का जिम्मेदार जितना ब्रिटेन है, उतना ही वह स्वयं है। इतिहास का तर्क भी एक वस्तु है। संसार अन्धी असंगति के हाथ में नहीं है। यदि राष्ट्र को कष्ट सहन करना पड़ता है, तो वह अकारण नहीं। भारत का पतन औसत भारतीय के संकुचित दृष्टिकोण के कारण हुआ है। जाट-पांत के झगड़े, घृणा और तिरस्कार, पैतृक जमीन पाने की वृत्ति और देश की आद्यात्मिक संपति का विनाश, सभी ने भारत के पतन में सहयोग दिया है। लोगों ने अपनी समृद्ध आध्यात्मिक विरासत छोड़ दी और वे अत्यधिक स्वार्थी बन गए, जिसका परिणाम है वर्तमान दुर्गति। भारत जब तक अपनी भौतिकता और स्वार्थ नहीं छोड़ देता, वह

स्वतंत्रता प्राप्त नहीं कर सकता। 'जब तक हम व्यक्तिगत या सामूहिक अज्ञान के कारण अपने देशवासियों के साथ मनुष्यता का व्यवहार नहीं करते, जबतक हमारे जमींदार अपने काश्तकारों को भी अपनी संपत्ति का अंग मानेंगे, जबतक बलवान् कमजोरों को कुचलना जम्मिसद्ध अधिकार मानते रहेंगे, ऊँची जातियां नीची जातियों को जानवर से भी बदतर मानती रहेंगी, यही नहीं, जब तक हम अंग्रेजों द्वारा सद्व्यवहार के अधिकारी नहीं बनते, और जब तक हम अपने में अंग्रेजी नैतिक चारित्र्य को जगाने में असफल रहेंगे, तब तक भारत अपने अधिकार से वंचित रहेगा और अपमान सहता रहेगा।'

राष्ट्रों के सबसे बड़े शत्रु उनके विदेशी दुश्मन नहीं, वरन् वहाँ के समाज में पायी जाने वाली दुष्प्रवृत्तियां हैं। राष्ट्रों को इनसे बचना चाहिए। भारत की उन्नति में वास्तविक बाधाएं उन भागों में है जहाँ ब्रिटिश सरकार की कोई सत्ता नहीं। अन्धविश्वास, रीति-रिवाजों की रूढ़िवादिता, मूर्तिपूजा और संघर्ष को जन्म देने वाली प्राचीन रीतियां, भारत के आधुनिक अध:पतन का कारण हैं। भारत परधीन देश क्यों है और साझेदार क्यों नहीं? गुट से बाहर व्यक्तित्व रखे बिना वह गुट में क्यों शामिल है ? ब्रिटिश साम्राज्य के देशों में उसकी स्थिति एक अछूत के समान क्यों है? भारत पाने पुराने कर्मों का फल भोग रहा है। जैसा व्यवहार भारत अपनी दलित जातियों से करेगा, वैसा ही व्यवहार विजेता राष्ट्र भारत से करेंगे। जब तक हमारे देश से जाति-पाति की भावना और धार्मिक दंभ मिट नहीं जाते, तब तक बाहरी संसार में हमें वर्णभेद और जातीय द्वेष के विरुद्ध शिकायत करने का कोई अधिकार नहीं।

'जब तक हम अपने समाज में निरंकुशता को सहन करते हैं, तब तक हमें पूर्ण राजनैतिक स्वतंत्रता मांगने का कोई अधिकार नहीं मानव-जीवन को टुकड़ों में नहीं काटा जा सकता। हम यह नहीं कह सकते हैं कि धार्मिक मामलों में हम स्वाधीन होंगे, राजनैतिक स्वाधीनता के लिए लड़ेंगे, किन्तु सामाजिक जीवन में गुलाम बने रहेंगे। ईश्वर सदियों तक राष्ट्रों को यातनाएं देकर उन्हें अपनी आत्माओं का उद्धार करने में सहयता करता है। यद्यपि तारे सदा आकाश में रहते हैं, पर मनुष्य उन्हें केवल रात को देख पाता हैं। भारत की इस समय जो दुर्गति हो रही है, वह शाश्वत तारों को देखने में उसकी सहायता करेगी। वे जैसे आकाश में चमकते हैं, वैसे ही लोगों के दिलों में चमकेंगे। भारत को व्यापार, विलासिता और एश्वर्य के झूठे देवताओं से हटाकर ईश्वर की ओर प्रवृत करने के लिए विपत्तियों से होकर गुजरना आवश्यक है। शताब्दियों से चले आये भ्रष्टाचार का मूल्य भारत को इन यातनाओं द्वारा देना होगा। इनके द्वारा भारत की आत्मा उज्जवल बन रही है और उसका उद्धार हो रहा है। दु:ख-दर्द और दस्ता के दबाव से राष्ट्र व्यक्तियों के समान आध्यात्मिक शिक्रों तक पहुंच सकते हैं। भारत करवट बदल रहा है। वह अपने अध: पतन के कारणों को समझ रहा है तथा अपने प्राचीन आदर्शों और प्रेरणा के सत्य में विश्वास करने जा रहा है।

'शास्त्रों में, धर्म में और समाज में भारत आज सभी क्षेत्रों में अपने-आपको धोखा दे रहा है और अपने को अपमानित कर रहा है। सत्य और बलिदान के बल पर वह अपनी आत्मा को नहीं जगा रह। यही कारण है कि दूसरे राष्ट्रों से उसे जो मिल सकता था, वह भारत प्राप्त नहीं कर सका। इसीलिए पश्चिम से भी उसका समन्वय अधुरा है। इस सम्पर्क का पूरा फल भारत को नहीं मिल सकता था, वह भारत प्राप्त नहीं कर सका। इसलिए पश्चिम से भी उसका समन्वय अधुरा है। इस सम्पर्क का पूरा फल भारत को नहीं मिल सका, उसे मिली है केवल लज्जा और पीड़ा।' रबीन्द्रनाथ की कृतियों में वेदना का भाव उनकी इस धारणा के कारण है कि भारत को जो करना चाहिए, वह नहीं किया जा रह। भारत की दशा से उनके दिल को ठेस पहुंचती है। 'राजनैतिक आन्दोलन के हमारे प्रयत्न मुझे एकदम झूठे और अपनी विवशता में दयनीय रूप से कमजोर दिखाई देते हैं। मैंने अनुभव किया है कि यह भगवान की बहुत बड़ी कृपा है कि भिक्षा मांगना लाभदायक वृत्ति नहीं और केवल उसी को कुछ मिलता है, जिसके पास पहले ही कुछ होता है। मैंने अपने दिल में कहा कि हमें अपनी विरासत को फिर से प्राप्त करना चाहिए इस प्रकार ही संसार में अपना यथोचित स्थान लेना चाहिए।' वह विरासत क्या है? 'जीवन की सादगी, आध्यात्मिक दृष्टिकोण की स्पष्टता, हृदय की विशुद्धता, संसार से सामंजस्य और समस्त प्राणी-जगत् में असीम ब्रह्म के अस्तित्व की चेतना।' वह जानते हैं कि देश की परिस्थितियां कैसी हैं और आत्मा की ज्योति जगाये जाने में किन कठिनाइयों का सामना करना पड़ रहा है। हमारे देश की भयंकर गरीबी, निरक्षरता और लोगों की अज्ञानता, भौतिकवाद का उदय और आदर्शवाद की अवनति, अध्यात्मिक जीवन की बढ़ती हुई दुर्बलता, आपसी कलह और झगड़े, शिक्षा और स्वच्छता का इतना निम्न स्तर जो महामारी अथवा भुखमरी के समय भयंकर रूप धारण कर लेता है— यह भारत का ऐसा चित्र है जो अधिक-से-अधिक आशावादी व्यक्ति को भी उदास बनाये बिना नहीं रह सकता। रबीन्द्रनाथ की कृतियों में निराशावाद का कारण, भारत में अध्यात्म विरोधी शक्तियों का उनका ज्ञान है। भारत के उज्ज्वल भविष्य के सम्बन्ध में उन्हें संदेह नहीं, यदि वह अपने अतिती को पुनर्जीवित कर ले। किन्तु अभी तक ऐसा न होने का उन्हें दु:ख है। अतीत के गौरव से उनकी भविष्य की कल्पना प्रेरित हुई है, किन्तु उन्हें वर्तमान में भावी महानता के बीज दिखाई नहीं देते। अद्यात्म की ओर लोगों की, उदासीनता और देवालय में मौन है। वेदी अभी तक भी स्थिर है, किन्तु भग्न और दूषित। किसी समय अध्यात्मवाद का गढ़ अब भौतिकवाद की ओर झुक रहा है य किसी समय का गौरवशाली और प्रतिभापूर्ण, शक्ति तथा जीवन का पुंज अब स्वार्थ और अकर्मण्यता में खो गया है। हम देश में चारों ओर कहीं घूम जायं, हमें कहीं उदार सहानुभूति अथवा सच्चे उत्साह और अध्यात्मिक प्रेरणा के दर्शन नहीं होते। गद्यपूर्ण गणना और स्वार्थवृत्ति सभी चीजों पर छा गई है और उसके कारण मानव-समाज विकृत,

पतित और वियुक्त हो गया है। जब वह चारों ओर संसार को और अध्यात्म की स्थिति को देखते हैं तो उन्हें क्षोभ होता है और उनका दिल बैठता है। कल्पनाशील रबीन्द्रनाथ की या धारणा है कि धार्मिक अभ्युदय भारत को उसकी वर्तमान स्थिति से ऊपर उठायेगा। ऐसा अभ्युदय ही उसमें नया जीवन भर सकता है और वहाँ आशा का संचार कर सकता है जहाँ निराशा छायी हो। चूंकि वह हमें मुक्ति का शुभ समाचार देते हैं, उनके संदेश में आनन्द, आशा, उत्साह और आशावादिता है।

(7)

रबीन्द्रनाथ को इस बात से खुशी है की भारत अस्थायी रूप से ब्रिटेन के आधिपत्य में आ गया, क्योंकि भारत को राष्ट्रीय जीवन के प्रति उत्साह और पुनर्जीवन उसके सम्पर्क से ही मिला। सामाजिक, धार्मिक और नैतिक सभी विषयों में लोगों के हृदय में संदेह और प्रश्न उठने लगे। लोग पूछते हैं कि भारतीय सभ्यता में क्या न्यूनता है, जिसके कारण कुछ क्षेत्रों में वह असफल रही। भारत की वर्तमान आर्थिक दरिद्रता और राजनैतिक अधीनता की स्थिति का कारण क्या है? पश्चिम के सम्पर्क के परिणामस्वरूप सब बातों में एक प्रकार की विफलता हो गई और उसने भारतीय सभ्यता के कुछ पुराने सूत्रों को फिर से ढालने का अवसर दिया। रबीन्द्रनाथ भारत में अंग्रेजों स्वर किये गए कार्यों को स्वीकार करते हैं। उनका यह निश्चित मत है कि यदि भारत पर किसी विदेशी सत्ता का शासन होना ही था तो एनी किसी भी सत्ता की अपेक्षा ब्रिटिश राज्य ही अच्छा था। ब्रिटेन ने महंगा किन्तु कुशल शासन दिया, प्रभावशाली कानूनी सत्ता दी जिससे जीवन और सम्पत्ति सुरक्षित रह सके और इस प्रकार राष्ट्रीय उन्नति और एकता को नींव रखी। स्वतंत्रता के राजनैतिक आदर्शों के लिए भारत ब्रिटेन का ऋणी है। जब अंग्रेजों ने भारत में पैर रखा, उन्होंने जाने-अनजाने भारत में ऐसी क्रांति जगी दी, जो बिना स्वाधीनता,-प्राप्ति के शान्त नहीं होगी। 'अभी अंग्रेज पश्चिम से आये ही थे कि उन्होंने भारतीय इतिहास में प्रमुख स्थान ले लिया। यह घटना अवांछनीय या केवल आकस्मिक नहीं है। यदि भारत पश्चिम के सम्पर्क में न आया होता तो उसकी पूर्ण अधोगति हो गई होती। यूरोप का दीया अभी भी जल रहा है, हमें उसकी ज्योति से अपने बुझे दीपक को जलाकर समय के रस्ते पर फिर से चलना शुरू कर देना चाहिए। हमें अंग्रेजों के सम्पर्क के उद्देश्य को पूरा करना चाहिए। हमारा काम महान् भारत का निर्माण है।' ब्रिटेन के साथ के सम्पर्क ने हमारी आत्मा को मुक्त किया है और व्यक्तियों को स्वाधीनता की ओर अग्रसर किया है। इस महान् कार्य को हमें तर्क-संगत परिणाम तक पहुंचाना है, केवल उसके हनन के लिए आत्मा को मुक्त करने से कोई लाभ नहीं। आत्मिक मुक्ति राजनैतिक स्वतंत्रता का बुनियादी सिद्धान्त है और दोनों एक-दूसरे के पर्यायवाची हैं। इंग्लैंड ने बहुत हद तक इस पहल में योग दिया है, किन्तु अभी दूसरे को प्राप्त करना है। उसने नागरिकता, देशभक्ति और राजनैतिक स्वतंत्रता के आदर्शों की रचना की है, जिन्हें वह पूरा करके रहेगा।

रबीन्द्रनाथ की राय में, यह शिकायत करना बेकार है कि भारतीयों द्वारा जिम्मेदार सरकार, अंगेजों द्वारा अच्छे शासन का स्थान नहीं ले सकती। क्योंकि राजनातिक दृष्टि से हमारे लोग बहुत पिछड़े हुए हैं और इसलिए गलतियां करेंगे। यूरोपीय सभ्यता ने इस अभियोग का उत्तर देना हमें यों सिखाया है— 'गलतियां करना इतना भयंकर नहीं है, जितना कि अपने शासन से वंचित रहना। हम भूलें करके ही सत्य के पास पहुंच सकते हैं। अभी हमें और कुछ कहना है— हम अपने शासकों को याद दिला सकते हैं कि यद्यपि वे अब जनतंत्रवाद की गाड़ी को बड़े अभिमान से खींच रहें है, किन्तु हम उन्हें स्मरण दिला सकते हैं कि जब इस मार्ग पर उन्होंने पहले-पहल चलना शुरू किया था, जब इस गाड़ी के पहिये अटक-अटककर चल रहे थे और जब एक के बाद दूसरे पूर्व-दृष्टान्त तक पहुंचने में उसे धचके सहने पड़ रहे थे, उस समय जनतंत्रवाद की यात्रा इतनी संगीतमय नहीं थी, जितनी वह आज है। उस समय उसका मार्ग प्रशस्त नहीं थे, वह समय था जब वहाँ की लोक-सभा एक के बाद दूसरे हित में उलझते रह जाते थे: कभी बादशाह का हित, कभी धर्म का, कभी सामन्तों का, कभी शराब निकलने वालों का और इस प्रकार विद्वेष, भ्रष्टाचार, अकुशलता, लड़ाई-झगड़े का बोल-बाला रहा। क्या ऐसा भी एक समय नहीं था, जब लोग सभी के सदस्यों को जुर्माने के भय से ही सभा में बुलाया जा सकता थे? जहाँ तक गलतियों का सवाल है, आयरलैंड और अमेरिका के साथ इसके सम्बन्धों से लेकर डार्डनल और मेसोपोटेमिया में इसके हाल के कारनामों तक, लोकसभाओं की जननी (ब्रिटिश पार्लियामेंट) स्वर की गई गलतियों का ब्यौरा बहुत ही हतोत्साह करने वाला है। ब्रिटेन की लोकसभा में भारत में जो गलतियाँ की हैं, उनकी सूची तो और भी बड़ी है। स्वायत्त शासन का परिणाम कार्यकुशलता और जिम्मेदारी की भावना ही नहीं होती, इसके द्वारा मानवीय आत्मा का भी उत्थान होता है। व्यापक अर्थों में मानवता का आभास तभी होगा जब देहातों में रहने वाले जनसाधारण को विचार करने और निष्पक्ष व्यवहार करने के सुअवसर मिलेंगे। अवसर के आभाव में इस देश का प्रत्येक व्यक्ति अविकसित रहता है। इसलिए सभी गलतियों, खतरों और जोखिम के बावजूद हमें स्वराज के लिए अवश्य मांग करनी चाहिए। 'भारत में जो राष्ट्रीय बुराइयाँ है, उन सबका एकमात्र हल स्वराज्य की प्राप्ति ही है।' इसके उत्तर में अपने देश के इतिहास का हवाला देकर अंग्रेज हमसे कह सकते हैं, स्वायत शासन का मूल्य हम अनेक संघर्षों और असीम परिश्रम के बाद समझ पाये हैं। मैं यह स्वीकार करता हूं कि प्रत्येक अग्रण्य राष्ट्र कष्टों, गलियों और बलिदानों के बीच से गुजर कर ही सत्य-विशेष तक पहुंच पाया है। किन्तु जो लोग बाद में आते है, उनके लिए यह आवश्यक नहीं कि उस पता का अनुसरण करते हुए वे भी उन्हीं यातनाओं और कष्टों को सहन करें। यूरोप को सम्पन्न होने और पैरिपक्व बन्ने में सदियां लगीं, किन्तु जापान

उस सम्पन्नता के वृक्ष को अपनी भूमि में थोड़े से समय में ही लगा सका। इसलिए यदि स्वराज्य के लिए आवश्यक गुणों का हम में अभाव है, तो यह विश्वास करने का और भी कारण है कि व्यवहार और अभ्यास शीघ्र-से-शीघ्र आरम्भ किया जाना चाहिए। 'पहले अधिकारी बन और तब इच्छा करो 'यदि इस सिद्धान्त में कुछ भी सच्चाई होती तो कोई भी राष्ट्र स्वाधीनता प्राप्त न कर सकता। पश्चिम आज जनतंत्रवाद की डींग मारता है। मैं नहीं चाहता कि उस घृणित कीचड़ को उछालू, जो पश्चिमी राष्ट्रों की उपरी चमक-दमक के नीचे दबी है। यदि कोई ऐसी सर्वोपरि सत्ता होती, जो यह आदेश देती कि गलियों के रहते स्वायत्त शासन की कोई मांग नहीं कर सकता, तो पहले का-सा भ्रष्ट वातावरण आज भी यथापूर्व बना होता उअर उसमें सुधार की आशा विलीन हो गई होती। हमारे सामाजिक जीवन और व्यक्तिगत दृष्टिकोण में निस्संदेह दोष है, फिर भी हमें अपना स्वामी स्वयं बनना चाहिए। मानव का त्यौहार सजधज से मनाया जा रहा है, किन्तु किसी भी देश में सभी चिराग नहीं जले हैं। फिर भी उत्सव बराबर मनाया जा रहा है। यदि हमारा चिराग कुछ समय के लिए बुझ गया है, तो ब्रिटेन के दिये से हम अपाने बत्ती बाल लें तो क्या हर्ज है ! इससे ब्रिटेन के दीपक की ज्योति मन्द नहीं होगी, किन्तु संसार में अधिक उजाला हो सकेगा।' रबीन्द्रनाथ की यह धारणा है कि स्वाधीनता मिलने पर भारत के लोग अधिक तेजी से उन्नति कर सकेंगे। यदि भारत में अंग्रेजों के प्रति निधि यहां के विकास और लोगों के विचारों में परिवर्तन का स्वागत नहीं करते, बल्कि कड़े हाथों से उसके दमन करने का यत्न करते हैं तो रबीन्द्रनाथ के विचार से, भारत की प्रगति के लिए वह भी आवश्यक है य क्योंकि वह कहते हैं:

'जितनी अधिक वे अपने पेटी कसेंगे उतनी ही जल्दी वह
टूटेगी, जितनी ही अधिक उनकी आँखें लाल होती है,
उतनी ही हमारी आंखें खुलेगी।
अब आपके लिए काम करने का समय है, मीठे स्वप्न देखने का
नहीं, और जितने है वे गरजेंगे, उतनी ही जल्दी हमारी
तन्द्रा दूर हो जायगी।

सावधानी सिद्धान्तों और विश्वास को कुचलती नहीं, उन्हें पोषित करती हैं। कठोर उपाय शासकों में शंका और अविश्वास की भावना पैदा करते हैं और इससे दो व्यक्तियों के बीच सामंजस्य की भावना में उचित तालमेल बढ़ने के बजे मेल-मिलाप टूट जाता है। उसका परिणाम होता है कटुता और अन्याय की भावना में वृद्धि। रबीन्द्रनाथ कहते हैं, 'अतिवाद सरकार की निति के रूप में बहुत ही गलत है। उद्देश्य तक पहुँचने के लिए कानून का लम्बा रास्ता कभी-कभी भूलभुलैया-सा लग सकता है, परन्तु जैसे बेल्जियम के

अथिकारों पर अतिक्रमण का फल हुआ, उसी तरह 'न्याय के मार्ग को छोड़कर अतिवाद के छोटे मार्ग को अपनाना कभी सुखद नहीं होता।' रबीन्द्रनाथ का यह दृढ़ विश्वास है की ब्रिटेन भारत को स्वराज्य अवश्य देगा। वह जनता है कि यूरोपीय युद्ध उसे स्मरण दिलाता है कि यदि साम्राज्य के अधीन जातियों का राष्ट्रमंडल बन जाता है तो वह अधिक टिक नहीं सकता। यदि उसका अर्थ है स्वतंत्र देशों का राष्ट्रमंडल, तब उसके स्थिर रहने की संभावना है। ब्रिटेन की जनता इस दुसरे विचार के लिए केन्द्रीय शक्तियों के विरुद्ध, जो विश्व-आधिपत्य या विश्व के पतन में विश्वास रखती हैं, लड़ रही है। विश्व-स्वामित्व एक झूठा स्वप्न है। साम्राज्य का आधार नैतिकता होना चाहिए। वह एक अध्यात्मिक इकाई है। ब्रिटेन का उद्देश्य संसार में विभिन्न जातियों और धर्मों वाले स्वतंत्र राष्ट्रों के एक राष्ट्रमंडल की स्थापना का महान् प्रयोग करना है। यही वह आध्यात्मिक उद्देश्य है, जो आज साम्राज्य के विभिन्न लोगों को विरोधी सिद्धांतों के विरुद्ध लड़ाई करने में बांधे हुए हैं। केवल सत्ता ही ब्रिटिश शासन की महान् वस्तु नहीं। उनके कुछ ऐतिहासिक आदर्श है, जिन पर ब्रिटेन खड़ा है और भारत में ब्रिटिश शासन को उन आदर्शों को झुठलाना नहीं चाहिए। ब्रिटिश राष्ट्रमण्डल के स्वतंत्र लोगों को यह कहना कि वे भारत में हिन्दुस्तानियों को गुलाम बनाने के लिए हैं, उनका अपमान करना होगा। रूस की क्रान्ति ने यह प्रमाणित कर दिया है कि एक सरकार, चाहे वह कितनी ही मजबूत और शक्तिशाली क्यों न हो, वह राष्ट्र ही सामान्य इच्छा की अवहेलना नहीं कर सकती। यूरोप में जो बात एक मृत अंधविश्वास बन चुकी है, वह भारत में एक जीवित वास्तविकता नहीं बन सकती, यद्यपि विचारों को यूरोप से एशिया तक पहुंचने में बड़ी देर लगी है। होनहार होके रहेंगी और ब्रिटेन का यह गौरवपूर्ण अधिकार रहेगा कि वह भारत को उसकी मंजिल तक पहुँचाने के लिए मार्गदर्शन करे। आज भारत को कटु आलोचना अथवा व्यापारिक शोषण की नहीं, बुद्धिमानीपूर्ण सहानुभूति और व्यवहारशील मार्गदर्शन की आवश्यकता है। यदि ब्रिटेन यह देता है तो उसे उसके बदले भौतिक तथा अध्यात्मिक दोनों दृष्टि से हजार गुना अधिक मिलेगा, यदि वह नहीं देता है तो यह उसके प्रति विश्वासघात, सभ्यता के प्रति गुनाह और मानवता के प्रति पाप होगा। यदि ब्रिटेन और भारत में सम्बन्ध-विच्छेद हुआ तो वह एक भयंकर बात होगी, क्योंकि वह दोनों ओर से समजदारी की हार की स्वीकृति होगी। ऐसी विपत्ति का अर्थ है समझदारी की असफलता और दो राष्ट्रों के बीच सद्भावना का अंत, किन्तु जब तक एक ओर भी राजनीतिज्ञता है, ऐसी घटना नहीं घटेगी।

पश्चिम में राष्ट्रीयता के सम्बन्ध में रबीन्द्रनाथ कहते हैं, 'हमारा एकमात्र निकट का राष्ट्रीय अनुभव केवल ब्रिटिश के साथ ही है, और जहाँ तक जनतंत्र की बात है, यह मानने के कारण हैं कि वह प्रणाली सबसे अच्छी है। तब फिर हमें यह सोचना है कि पश्चिम पूर्व

के लिए आवश्यक है। हम एक-दूसरे के पूरक हैं, क्योंकि जीवन के प्रति हमारे दृष्टिकोण भिन्न है, जिन्होंने हमें सत्य के विभिन्न पहलु दिये हैं। इसलिए यदि यह सच भी हो कि पश्चिम की भावना हमारे क्षेत्र में एक तूफान के रूप में आई तो भी वह बिखरे हुए उन जीवित बीजों के समान है, जो अमर हैं। और जब हम भारत में, पश्चिमी सभ्यता में जो स्थायी है, उसे अपने जीवन में आत्मसात् कर सकेंगे, जब हम उन दो महान् संसारों में समझौता कराने की स्थिति में होंगे, तब एकतरफा शासन, जो आज फैल रहा है, उसका अन्त होगा। इससे भी अधिक, हमें यह स्वीकार करना होगा कि भारत का इतिहास केवल एक जाति विशेष का इतिहास नहीं। यह उस निर्माण के क्रम का इतिहास है, जिसके बनाने में द्रविड़, आर्य, प्राचीन ग्रीक और ईरानी, पश्चिम और मध्य-एशिया के मुसलमान आदि संसार की विभिन्न जातियों का योगदान है। अब जब अंत में इसके जीवन के निर्माण में योगदान देने की अंग्रेजी की बारी आई है, हमें न यह अधिकार है और न ही हमारी ताकत है कि हम उन्हें भारत के भाग्य-निर्माण के कार्य से अलग कर दें।' रबीन्द्रनाथ अनुभव करते हैं कि उनका कर्तव्य है कि वह इस संयोग को हर प्रकार से बढ़ाये, और वह ऐसे किसी भी दल के विरुद्ध हैं, चाहे वह अंग्रेजों का हो या भारतीयों का जो ऐसे उद्देश्यों के प्रति, जो दोनों को समीप लाने में सहायक होते हैं, उनके खिलाफ कार्य करे। ब्रिटिश साम्राज्य के आदर्शों के प्रति वफादारी की यह मांग है कि हम अपने शासकों को, जब वे अपने कर्तव्य से चुस्त हों, तो उन्हें उनके कर्तव्य की याद दिलायें। कनाडा की भूमि पर पदार्पण करने से इन्कार करके रबीन्द्रनाथ ने उस देश में भारतीयों के प्रति जो दुर्व्यवहार हुआ, उसके विरुद्ध मौन और जोरदार किन्तु सभ्य प्रतिवाद द्वारा, यह प्रमाणित कर दिया कि भारतियों के आत्म-सम्मान के विषय में उनकी आस्था कितनी गहरी है। वह नहीं चाहते कि वे गाली खायें या अपमान सहें, या उस हाथ को चाटें जिसने उन्हें मारा हो।

'हमें यह जानना चाहिए कि उस हृदय में, जो दासता का अपमान
सहता है, तेरा प्रकाश मन्द हो जाता है,
कि जीवन जब कमजोर हो जाता है तो तेरे सिंहासन को धीरे
से असत्य के सुपुर्द कर देता है,
क्योंकि निर्बलता उस विद्रोही के सामान है, जो हमारी आत्मा
को धोखा देता है।'

(8)

अब हम रबीन्द्रनाथ के उन विचारों को देखेंगे, जो उन्होंने देश के पुनरुत्थान के लिए आवश्यक उपायों के सम्बन्ध में व्यक्त किये हैं। यह प्रश्न महत्वपूर्ण है, क्योंकि इस पर बहुत-सी मिथ्या धारणाएं फैली हुई हैं। यह कहा जाता है कि रबीन्द्रनाथ का गीत अराजक

प्रवृत्तियों को प्रेरणा देता है, और उसकी थोड़ी-बहुत सहानुभूति 'चीन, जापान और अमेरिका की चापलूसी के साथ है, जिसके सम्बन्ध में हम विदेशी पत्रों में सुनते हैं। यह कहना बड़ा विचित्र लगता है कि भारत के कई भागों में इससे विरुद्ध मत प्रचलित है, जहाँ यह कहा जाता है कि रबीन्द्रनाथ ने अपने पुराने राष्ट्रीय दृष्टिकोण को ही त्याग दिया है। हम उनकी स्थिति स्पष्ट कर दें।

रबीन्द्रनाथ की सहनुभूति कांग्रेस के उन नरमदलीय लोगों के साथ नहीं, जिनके राजनैतिक विश्वास मध्य-विक्टोरियन युग में प्रचलित बुद्धिवाद, प्रबोधन, प्रगति और स्वाधीनता जैसे नारों पर आधारित हैं और जिनकी कार्यविधि समाचारपत्रों और मंच पर भाषणों के द्वारा शान्तिपूर्ण वैधानिक आन्दोलन करने तक सीमित है। भारत की प्राचीन भावना के प्रति यदि घृणा नहीं तो उदासीनता का भाव उनमें अवश्य है। वे मिल और मोर्ले, वर्क और ब्राइट के सम्बन्ध में बड़ी चिकनी-चुपड़ी बातें करते हैं और यदि बाकी सारा भारत उनका अनुसरण करे और बिना रुचि अथवा बुद्धि के उनकी नकल करे, तो उन्हें बड़ी खुशी होगी। उनके कार्यक्रम की कोई अध्यात्मिक बुनियाद न होने से वह नरमदल किसी को आकर्षित नहीं करता। रबीन्द्रनाथ समझते हैं कि इन नरमदलीय लोगों ने राजनीति में भिखारीवृति को सुन्दर कला के रूप में विकसित कर दिया है। इस 'भिक्षा-वृत्ति' पर चलने वालों के पास देश के भविष्य के सम्बन्ध में कोई स्पष्ट विचार नहीं है। वे नहीं जानते कि सफलता का मार्ग कौन-सा है, और यदि वे जानते भी हैं तो उस पर चलने का उनमें साहस नहीं। उग्रवादी बम फैकने वाले और रेल की पटरियां उतारने वाले नहीं, बल्कि वे हैं जो कर्म की स्वतंत्रता का समर्थन करते हैं। जबकि नरमदलीय समझते हैं कि बातें, दबाव और एनी ऐसे सस्ते और आसान तरीकों से राजनैतिक उद्देश्य की प्राप्ति हो सकती है, तब उग्रवादी इस विचार के हैं कि बिना सहन किये और जोखिम उठाये कोई महान् वस्तु प्राप्त नहीं हो सकती। उनके अन्दर समस्याओं पर विचार करने और इन घटनाओं का सामना करने की सच्ची इच्छा होती है और वे सुखद भ्रमों से अपने-आपको बहलाने में संकोच करते हैं। उनका (उग्रवादियों का) यह अनुरोध है कि राजनैतिक समस्याएं शब्दांबर से नहीं सुलझ सकतीं, जबकि नरमदलीय शासकों को तर्क से मनाने का प्रयत्न करते हैं। उग्रवादी यह अनुभव करते हैं कि सच्चा अध्यात्मिक कार्य शासकों को उनके उद्देश्य की न्यायसंगति का कायल कर सकेगा। ये लोग पाखण्ड छोड़ वास्तविकता की ओर मुड़ते हैं और वे उन लोगों से, जिनके हृदय में ज्वाला है जिनका चरित्र ऊँचा है, अपील करते हैं। वे उनसे देश के लिए जीवन और घर, तथा धन-संपत्ति के त्याग की मांग करते हैं। वे कभी कभी वैधानिक आन्दोलन को भी अपनाते हैं, किन्तु बहादुरी और साहस के साथ। किन्तु इस विचारधारा के लोग भी गलती करते हैं, क्योंकि वे भूल जाते हैं कि भारत की समस्या केवल राजनैतिक

नहीं, वरन् जीवन की सभी प्रकार की समस्याएं उसके सामने हैं।' वे इस स्वत: सिद्ध तथ्य को स्वीकार नहीं करते कि हमारी सामाजिक व्यवस्था में ऐसे कारण विद्यमान थे, जिन्होंने भारीयों को दुश्मनों से लड़ने में असमर्थ बना दिय। ' वह पूछते हैं, 'यदि किसी भी कारण से अंग्रेजों को यह से हटा दिया जाय, तो हमें क्या करना चाहिए? हम तब किसी दुसरे राष्ट्र के अधीन हो जायंगे। भारत में हमें जो बात सोचनी है, वह यह है कि हम उन सामाजिक रिवाजों और आदर्शों को हटा दें, जिन्होंने हममें आत्म-सम्मान की कमी और अपने से ऊपर के लोगों के आश्रित बन जाने की भावना को जन्म दिया है— और जिसने भारत में जाति-प्रथा के आधिपत्य के फलस्वरूप आज के युग में उन परम्पराओं पर अन्धे और आलसी होकर पूरी तरह निर्भर हो जाने के कारण ऐसी स्थिति पैदा कर दी है।' रबीन्द्रनाथ की दृष्टि में भारत में जात-पांत का प्रभाव उतना ही शरारतभरा है जितना पश्चिम का। दोनों ही यन्त्रवादी, मृत और निर्जीव, लोचनहीन और आत्माविहीन संगठन हैं। उनकी इच्छा यह है कि भारत के सभी सेवकों को अध्यात्मिक स्वतंत्रता के रानात्मक आदर्श से प्रेरित होना चाहिए, और उसी विचार को ध्यान में रखकर लोगों को नागरिक, सामाजिक और राजनैतिक निरंकुशता से बचाना चाहिए।

नवजीवन के लिए इच्छुक एक देश में, जहाँ अधिक उज्जवल संसार और अधिक निर्मल आकाश की सामान्यतया उत्कृष्ट अभिलाषा हो, वहाँ मनुष्य के उद्वेग विभिन्न रूप धारण कर लेते हैं। वहाँ मनुष्य के उद्वेग विभिन्न रूप धारण कर लेते हैं। वहाँ जबकि कुछ ऐसे व्यक्ति होते है, जो हिंसात्मक कार्यों से डरते हैं, तो दूसरी श्रेणी में आते हैं, वे हैं दुर्भाग्यशाली और गलत दिशा में गये हुए युवक, जो अपने अन्धे आवेश में आकर सारे राष्ट्र को एक सूत्र में गूंथने वाली कड़ियों को तोड़ डालते हैं और इस प्रकार राजनैतिक गुनाह करते हैं। परिस्थिति का निराशाजनक विचार उनमें औचित्य और न्याय के स्थान में अविश्वास को जन्म देता है, और सफलता के मोड़ पर पहुंचने की गलत धारणाएं तथा साहस के साथ सस्ते समझौते उन पर हावी हो जाते हैं। सीधे व्यवहार के प्रेमी रबीन्द्रनाथ इस विचारधारा के विरुद्ध बड़े आवेश से दलील देते हैं, 'मैंने सदा इस बात पर जोर दिया है कि गलत काम की कीमत आगे जाकर कभी भी लाभदायक नहीं होती, क्योंकि पाप का कर्ज हमेशा अधिक भारी होकर ही समाप्त होता है। मैं इस बात पर बहुत दृढ़तापूर्वक जोर देता हूं कि उग्रवाद, जो न तो उचित है, न वैध और न खुला, जिसका अर्थ है सीधे रस्ते का और जल्दी से पथ के एक विशेष छोर को पाने की आशा में टेढ़े-मेढ़े रास्तों को अपनाना, हमेश नितांत निन्दनीय है।' वह अपनी सारी शक्ति लगाकर भारत के लोगों को यह बताना चाहते हैं कि पाप और गुनाह के द्वारा राजनैतिक स्वतंत्रता तक पहुंचने का कोई छोटा रास्ता नहीं, वहाँ पहुँचने के लिए तो शक्ति और सहिष्णुता का राजमार्ग ही है। दो स्थानों के बीच

एक सीधी रेखा ही सबसे छोटी होती है जो दो बिन्दुओं के बीच स्थान और जामैट्री में ही नहीं, जीवन और भावना के बीच भी खिंची जा सकते है। टेढ़ी-मेढ़ी रेखाएं कुछ देर के लिए छोटी भले ही दिखाई दें, किन्तु अन्त में वे अपनी अत्यधिक लम्बाई को प्रकट करके रहेंगी। कुछ समय के लिए हम दूसरों को अपना शिकार बनाकर अपने-आपको विजयी भले मान लें, किन्तु विजय और शिकार बनाने की प्रक्रिया हमें जीत की और नहीं ले जाती। इस तरह हम अपना लक्ष्य भले ही प्राप्त कर लें, किन्तु वह अधिक स्थायी नहीं होगा। गुण, जिसका अर्थ है त्याग, वही मुक्ति का मार्ग है। इन स्थितियों में अच्छे और बुरे, सही और गलत, सच और झूट में कोई समझौता नहीं। हम एक के द्वारा दूसरे को नहीं प् सकते। हमारी सारी क्रियाएं तर्क के निष्ठुर अथिकर में हैं। जिव में कर्म-जैसी एक वस्तु है, जिसे हम आत्म-हानि के बिना नहीं मार सकते। हर गुनाह का हमें प्रायश्चित करना होगा। अधिकारों का प्रत्येक खंडन अपने साथ दु:ख और यातना के अवश्यम्भावी परिणामों को साथ लेकर चलता है, जिन्हें कोई रोक नहीं सकता। प्रत्येक अपराध किसी हद तक एक तरह की अनैतिकता पैदा करता है, जो राष्ट्रीय हृदय की शक्ति और गुण को क्षीण करता है। नैतिक कानून यह बताता है कि जब हम दूसरों को मारते हैं, वह चोट हम पर ही वापस आती है। भ्रष्टाचार नवजीवन की ओर नहीं, मृत्यु की ओर ले जाता है। बहुत-से प्रभावशाली युवक हिंसात्मक अराजकता को अपनाकर कमजोर और क्रूर बन जाते हैं, क्योंकि देर-सवेर नैतिक संकट आ खड़ा होता है य जव वह ज्योति जो साहस और विश्वास को प्रेरित करती है और जो आत्मा में सेवा और त्याग की भावना को मजबूत करती है, हमेश के लिए बुझ जाती है, शंका और अविश्वास से दृष्टि पर अँधेरा छा जाता है, आत्मा विषाक्त बन जाती है और इसलिए मर जाती है, और पुनीत उद्देश्य यदि नष्ट न भी हो तो कमजोर अवश्य पड़ जाता है। परमात्मा द्वारा भारत को सौंपा हुआ महान् कार्य गलत रास्तों पर चलकर और जल्दबाजी के झूठे उपायों को अपनाकर पूरा नहीं हो सकता, वरन् शाश्वत सत्य की पूजा करके और सादगी के गुण को अपना कर, आत्मा का पसीना बहाकर और शरीर के त्याग से ही पूरा किया जा सकता है। राजनैतिक चालबाजी और अवसरवादिता को अपनाकर हमें अपनी आत्मा की स्वच्छता को खोकर उसे अपवित्र नहीं करना चाहिए। हमें यह विश्वास करना चाहिए कि हार अनादर की अपेक्षा, कष्ट-सहन दु:ख देने की अपेक्षा, और वेदना घृणा की अपेक्षा श्रेष्टतर है। हमें तिरस्कार के बिना सह लेना और दु:ख के बिना त्याग करना सीखना चाहिए। आत्मा को धर्म-परायणता, जो पर्वत की तरह सदा स्थायी है, छोड़कर किसी सत्ता के आगे नहीं झुकना चाहिए। रबीन्द्रनाथ हर प्रकार के आतंक का तिरस्कार करते हैं और अपने देशवासियों का, भारत, जिसके पास पवित्र और निष्कलंक अन्त: करण की सम्पत्ति है, उसके पुनरुद्धार के कार्य के लिए आवाहन करते हैं। उनकी

यह उत्कट इच्छा है कि नविन देशभक्ति की भावना को, जो नवीन भारत के जीवन का बहुत शक्तिशाली तत्व है, पवित्र और साफ रखना चाहिए, अपराध या अनुचित प्रेम के धब्बों से उसे गन्दा नहीं होने देना चाहिए।

जहाँ रबीन्द्रनाथ विनाश की इस प्रवृति का, जिसने देश में कुछ भटकते हुए जबानों को जकड़ दिया है , विरोध करते है, वहाँ वह यह भी बताते हैं किसी प्रवृति का कर्ण पश्चिम का प्रभाव है। भारत का धर्म सदा न्याय पर खड़ा रहा है। अनुचित उपायों द्वारा हमें अस्थायी सफलता मिल सकती है, किन्तु अन्त में विनाश अवश्यंभावी है। भारतीय धर्मशास्त्र घोषित करते हैं, 'मनुष्य अधर्म द्वारा पनपते हैं। अधर्म में उनको कल्याण दिखाई देता है , अधर्म से वे शत्रुओं को उखाड़ पैंकते हैं, किन्तु वे स्वयं जड़ से नष्ट हो जाते हैं।'

संसार के प्रगतिशील देशों का इतिहास भारतीय युवक को सिखाता है कि राष्ट्रों का आदर उसके अनादर में नष्ट हो जाता है। वह देखता है कि इतिहास के कठोर तथ्य हैं नैतिक कानून का तिरस्कार, मानव-जीवन के प्रति अनादर और कमजोर राष्ट्रों के अधिकारों के प्रति उदासीनता। राजनय की गणना प्रगतिशील राष्ट्रों में व्यवहारशील नैतिकता को प्रेरित करती मालूम होती है, जिसके कारण समय-समय पर संसार के कमजोर लोगों को बेचा और खरीदा गया है। उनकी अवेहलना और अपमान हुआ है उनके साथ धोखा किया गया है और उनको पराधीन बनाया गया है। वह देखता है कि स्वतन्त्र राष्ट्रों में भी दलों और गुटों के जघन्य झगड़े और सत्तालोलुप राज्यों और व्यक्तियों के बीच संघर्ष रहते हैं। इन सबके बावजूद यदि वे सफल हुए, तो इसका अर्थ वह यह लगाता है कि यह सफलता विचारहीनता का ही परिणाम है। इतिहास उसे अपराधों और बुरे कामों का रजिस्टर दिखाई देता है और वह पूछता है, हमें इतिहास उसी तरह क्यों नहीं बनाना चाहिए जिस तरह वह बनता है ? यदि राजनैतिक दृष्टि से स्वतन्त्र राष्ट्र मनुष्यों के पत्र खोल लेते हैं- जो कारलाईल के अनुसार 'लोगों की जेब कतरने के बराबर है- मोहर तोड़ते हैं, गोपनीयता का खंडन करते हैं और व्यक्तित्व के निजी जीवन पर आघात करते है, और यदि उसे इस बात का उचित दंड न मिले तो उसमें अपने धर्मशास्त्रों की शिक्षा को फैंक मारने की प्रवृति जगती है और वह नैतिक कानून के अस्तित्व में ही संदेह करने लगते हैं। रबीन्द्रनाथ कहते हैं, 'हमें अपने कुछ युवकों द्वरा अपनाये गए उन उपायों के कर्ण, जिनकी शरण उन्होंने देश की प्रगति में आने वाली बाधाओं से छूटकारा पाने के लिए ली, बड़े शर्मिन्दा हैं। हम इस करना और भी अधिक शर्मिन्दा हैं क्योंकि उचित और तत्काल आवश्यक का भेदभाव हमें पश्चिम द्वरा अनुमोदित डकैती को पश्चिम में अनिवार्य रूप से उस पुरस्कार का एक अंग माना जाता है, जिसके बल पर राष्ट्र दृढ़ बनते हैं। इसलिए हम अब यह समझ पाये हैं कि जहाँ देशभक्तिपूर्ण स्वार्थ सिद्ध होता हो, वहाँ धर्म-परायणता की चिन्ता करना एक दुर्बलता है,

मुर्खतापूर्ण बात है और निरर्थक भावुकता है।' इस प्रकार औचित्य की अखंडता, आत्मा की पवित्रता, सम्पति के प्रति आदर ये सब भारतीय आदर्श हमारे नौजवानों के दिलों में पश्चिम से संघर्ष के कारण मिट्टी में मिल जायेंगे। समय आ गया है कि राष्ट्र अपने दिलों से सार्वजानिक और निजी नैतिकता का अनैतिक भेदभाव मिटा दें और बर्क की इस मान्यता की कि, राजनीति के सच्चे सिद्धान्त वास्तव में व्यापक नैतिकता से बढ़कर और कुछ नहीं, पोषण करें, पृथक आदर्शों के आधार पर जीवन को विशेष टुकड़ों में बांटने का रबीन्द्रनाथ विरोध करते हैं। हम नहीं कह सकते की कौटुम्बिक जीवन पहले, व्यापारिक कार्य दूसरी और अन्तराष्ट्रीय राजनीति तीसरी वस्तु है। यह हो सकता है कि यूरोप के राष्ट्र इन विभागों के बंटवारे के अभ्यस्त हों, किन्तु यूरोप को उन्हीं के सिक्कों में चुकाने की लालसा से भारत को बचना चाहिए। यह सोचना गलत है की पश्चिम ने अपने यह वर्मन महत्त्व विचाहिनता को अपना कर पाया है। पश्चिमी सभ्यता में भी एक जीवित आत्मा बसती है, जो मनुष्य में निहित गहरे अविश्वास, उन पुनीत अधिकारों के लिए कुटिल घृणा, जो सरकारों की नीतियों में अभिव्यक्त हुए है और जो अपने निजी स्वार्थों की पूर्ति के लिए अधिकारों के उल्लंघन और विश्वासघात करने में नहीं हिचकती, उन सबका प्रतिवाद करती है। यूरोप की महानता उसकी सत्ता की पूर्णता में इतनी नहीं, जितनी नि:स्वार्थ आदर्शों के प्रति आदर की भावना है।

अच्छी सरकार के लिए यह आवश्यक है कि वह ऐसे उपायों की खोज करे, जिससे राष्ट्र के उत्साह और त्याग की शक्ति को बुद्धिमत्तापूर्ण मार्गदर्शन मिल सके। क्योंकि समझदारी से रहित और निराशा में डूबा हुआ उत्साह पागलपन के छोर तक पहुँच जाता है, जिसका परिणाम शासकों और शासित दोनों के लिए अवांछनीय होता है। जिन बातों को वे उचित मानते हैं, उनके प्रति इन उग्रवादियों की असीम आस्था और उन्हें प्राप्त करने के लिए उनमें पूर्ण आस्थ, आत्मसमर्पण की शक्ति और मृत्यु तथा भय की निर्भय स्वीकृति को देश की मूल्यवान् निधि के रूप परिणत किया जा सकता है और यह उस सरकार का कर्तव्य है, जो राजनैतिक गुनाह की दबाकर जो भी श्रेयस्कर है उसे भले काम में लाने के मार्ग खोल देना चाहती है। क्योंकि जब उनके सामने देश-सेवा के मार्ग खुले नहीं होते तो वे गुप्त और बुरे रास्ते अपना लेते हैं तथा छिपे और अनजान देवताओं की पूजा करने लगे हैं। जीवन एक हलचल है और हम उसे रोक नहीं सकते। यदि हम उसके बहते प्रवाह को रोकते हैं, तो वह दूसरे मार्ग गढ़ लेता है, और ऐसा करने से वह विस्फोट की तरह फूट निकलता है। आत्मा स्वतंत्रता तथा रचना के आनन्द के लिए है। दुनिया-भर की शक्तियां स्वतंत्रता के लिए अविराम खोज, जीवन के प्रति रुचि और जीने के उल्लास का अवरोध नहीं कर सकती। 'शाही सरकार की विस्तृत योजना में केवल मुंशिगिरी की नौकरी के

मार्ग खुला नहीं होगा, तो मनुष्य की आत्मा मुक्ति के लिए तड़पेगी और उसके लिए गुप्त मार्गों की खोज होगी, जिसके रास्ते बड़े खतरनाक होंगे और उसका अन्त क्या होगा, इसकी कल्पना भी कठिन है।'

विश्व को रबीन्द्रनाथ टैगोर का संदेश:—

मैंने स्वप्न देखा, स्वप्न में मैंने ऐसा नगर देखा, जो समस्त शेष
पृथ्वी द्वारा किये गए आक्रमण से अजेय था,
मैंने स्वपन देखा कि वह मित्रों का नया नगर था।
तीव्र तथा पुष्ट प्रेम के युग की अपेक्षा वहाँ कुछ भी अधिक
महान् और उदात्त नहीं था, दूसरे गुण इसके पीछे चलते थे।
यह गुण उस शहर के मनुष्यों की क्रियाओं में प्रत्येक क्षण
दिखाई पड़ता था,
और उनकी दृष्टियों और शब्दों में भी।

—व्हिटमैन

किन्तु तब हमारे लिए कौन-सी सम्पत्ति बची रहेगी,
जब खुलेआम अपने मित्र को खरीदने के लिए,
और विक्रित की चिंता से ग्रस्त होने के लिए,
कोई भी सुवर्ण का संचय नहीं करेगा?
कुछ भी नहीं संचय करेगा सिवाय मनोहर नगर के,
और पर्वत पर बने छोटे घर के,
और ऊसर तथा वनप्रदेश के सौन्दर्य के,
और उन आनंदप्रद खेतों के जिन्हें हम जोतते हैं,
और प्राचीन कथाओं के उद्गम-प्रदेशों के,
और दिवंगत महापुरषों की समाधियों के,
और चित्रकार के चमत्कार करने वाले हाथ के,
और गायक-मंडल के समवेत गान के,
वे सब जो करशील तथा ज्ञानशील हैं।

—विलियम मौरिस

पश्चिम को प्रेरित करने वाली आत्मा और आदर्श के प्रति रबीन्द्रनाथ के विचारों के सम्बन्ध में हमने कुछ कहा। हमने उस मनोभाव तथा आदर्श के सम्बन्ध में रबीन्द्रनाथ के

विचारों का उल्लेख किया है जिनसे पाश्चात्य अनुप्राणित है। यह कहना ठीक नहीं की रबीन्द्रनाथ पश्चिम के गुणों अथवा पूर्व के दोषों की अवहेलना करते हैं। स्वाधीनता और सत्य के आदर्श संत की भाँति उन्होंने सभी पाखण्डों का खंडन किया है, चाहे वे पूर्वी हों या पश्चिमी। रबीन्द्रनाथ यह मानते हैं कि पश्चिम में उन्होंने समाज-सेवा का जो भाव देखा, उससे वह बहुत प्रभावित हुए। वह कहते हैं, 'इससे मुझे प्रेरणा मिली।' कानून, व्यवस्था और स्वाधीनता के पश्चिमी आदर्शों के वह प्रशंसक हैं। 'मशीनगनों के धुएं और बाजारों के गर्द-गुबार के पीछे पश्चिम की नैतिकता की ज्योति चमकती है, जिसकी जड़ें सामाजिक परम्पराओं से अधिक गहरी हैं और जिसकी परिधि विश्वव्यापी है।.... यूरोप हमें जनकल्याण के उन उच्च कर्तव्यों को सिखलाता है, जो परिवार और कबीले के कर्तव्यों से अधिक श्रेष्ठ हैं और हमें उस कानून की पवित्रता की शिक्षा देता रहा है जिससे समाज को स्वतन्त्र आधार मिला है, जिससे प्रगति की सुरक्षा हो सकती है और जिससे सभी वर्गों और श्रेणियों के मनुष्यों को न्याय का आश्वासन मिलता है। इन सबसे बढ़कर यूरोप ने हमारे सामने सदियों के बलिदानों और सफलताओं के फलस्वरूप हमारे दिलों में आजादी का झंडा फहराया है— आत्मा की आजादी, विचार और कर्म की आजादी, कला और साहित्य के विचारों की आजादी का।'

(9)

पाश्चात्य सभ्यता अध्यात्मिक की अपेक्षा अधिक यांत्रिक और धार्मिक की अपेक्षा अधिक राजनैतिक है। शान्ति की अपेक्षा इसमें शक्ति का अधिक ऊँचा स्थान है। यह राजनैतिक प्रवृति कई प्रकार से व्यक्त होती है। नारी की समस्या उसका एक लक्षण है और यूरोपीय युद्ध दूसरा। 'पर्सनालिटी' में रबीन्द्रनाथ ने नारी की समस्या को एक पूर्ण अध्याय दिया है। जीवन के दो पहलू हैं— विश्राम और हलचल, अथवा होना और बने रहना। इनमें से नारी की प्रवृति में 'होने' का पक्ष अधिक बलवान है। नारी का सम्बन्ध गृहस्थ जीवन और प्रत्येक व्यक्तिगत तथा मानवीय वस्तु से है। स्वयं वस्तुओं में उसकी दिलचस्पी अधिक नहीं, उसकी दिलचस्पी का केंद्र पुत्र, पिता और पति है। 'जब कभी ऐसी चीज सामने आती है, जो स्पष्ट रूप से व्यक्तिगत अथवा मानव-सम्बन्धी हो, वह नारी-जगत् की परिचायक होती है। गृहस्थ जीवन में प्रत्येक व्यक्ति का अपना स्थान है। इसलिए वह अपना मूल्य बाजार में नहीं, बल्कि किसी के पर्यार में खोजता है, अर्थात् उस पर्याय में, जिसे ईश्वर ने अपने वरदानस्वरूप सभी प्राणियों को दिया है।' भारतीय विचारधारा में स्त्री और पुरुष के सम्बन्धों की तुलना कर्ता और कर्म, रूप और तत्व तथा पुरुष और प्रकृति से की गई है। ये सब एक-दूसरे से सम्बन्ध हैं और एक-दूसरे के पूरक हैं।

प्रचलित विचारधारा अधिकतर यह मानकर चलती है कि पुरुष और नारी में लैंगिक भेद के अतिरिक्त और कोई भेद नहीं य मानों वे दो गेंदों की तरह है, एक सफेद और दूसरी काली, जिनमें एकमात्र अन्तर रंग का है। किन्तु कुछ मौलिक भेद हैं, जिनके कारण यह उदाहरण दूषित हो जाता है। पुरुष और स्त्री एक-दूसरे की नकल नहीं, एक-दूसरे के पूरक हैं। भाव, भावना और भावुकता नारी के प्रधान गुण हैं, जबकि विचार, मनन और चिन्तन पुरुष के गुण हैं। सहिष्णुता और आत्मसमर्पण नारी के आनन्द के विषय हैं और क्रियाशीलता को शक्तियुक्त करना पुरुष का गुण है। नारी विवाह के लिए और पुरुष व्यापार के लिए है। यदि पुरुष आलस्य से घर पड़ा रहे तो उसे निखट्टू कहते हैं और यदि नारी विवाह नहीं करती तो उसे बेकार कहते हैं।

आजकल नारी यह नहीं मानती कि उसका क्षेत्र घर की चारदिवारी है। वह बैचैन है। वह शादी करने और बच्चे जनने से डरती है। वह व्यापार में पुरुष के एकाधिकार से संघर्ष करती है। दुकानों, कारखानों और दफ्तरों में काम करके वह अपना विलगीकरण कर रही।

'गुरुदेव' और 'महात्मा' की सहधर्मिता

–श्रीभगवान सिंह

बीसवीं सदी इतिहास बन चुकी है किन्तु इस सदी में भारतवर्ष दो ऐसी शख्सियतों से सर्वाधिक सुशोभित हुआ जिनमें एक 'गुरुदेव' के रूप में तो दूसरी 'महात्मा' के रूप में काल के भाल पर अंकित है। भारतवर्ष के पूर्वी छोर की बंगीय भूमि पर जन्मे रबीन्द्रनाथ टैगोर कवि-विश्वकवि के रूप में विख्यात होते हुए 'गुरुदेव' के रूप में समाद्धृत हो गये, तो पश्चिमी छोर के गुजरात प्रदेश में जन्मे मोहनदास करमचंद गांधी 'महात्मा' के रूप में विश्व विख्यात हो गये। रबीन्द्र का जन्म सात मई 1861 में हुआ था तो मोहनदास का जन्म दो अक्टूबर 1869 को, यानी मोहनदास रबीन्द्र से लगभग आठ साल छोटे थे। 7 अगस्त 1941 को रबीन्द्रनाथ स्वर्गवासी हुए तो करीब सात साल बाद 30 जनवरी 1948 को हत्या का शिकार होकर मोहनदास मृत्यु को प्राप्त हुए। एक ने साहित्य साधना को अपना कर विश्व में भारतवर्ष का मस्तक ऊँचा किया और 'गुरुदेव' का आसन प्राप्त किया तो दूसरे ने राजनीति, समाज, देश की सेवा में अपने को समर्पित कर 'महात्मा' की प्रतिष्ठा प्राप्त की। दोनों ही लगभग समकालीन रहे और उन्हें ये पदवी किसी राज्यसत्ता या धर्माधिकारी ने नहीं बल्कि लोक-समाज ने प्रदान की जो भारतवर्ष की प्राचीन परम्परा रही है। हमें मालूम है कि महर्षि व्यास को 'गुरु' वाल्मीकि को 'आदि कवि' कालिदास को कविकुल गुरु या फिर भक्त कवियों को 'सन्त' आदि की उपाधियाँ किसी सत्ता प्रतिष्ठान ने नहीं, बल्कि लोक-समाज ने प्रदान की थी। वैसा ही व्यवहार हमारे लोक समाज ने इन दो महान विभूतियों के साथ किया। इसलिए यह बात बहुत महत्व नहीं रखती कि रबीन्द्र को सबसे पहले 'गुरुदेव' किसने कहा और गांधी को सबसे पहले 'महात्मा' किसने कहा। यह गवेषणा इच्छुक जनों की दिलचस्पी का विषय हो सकता है किन्तु यह सत्य अवश्य है कि गांधी रबीन्द्र को 'गुरुदेव' का सम्बोधन देते रहे, तो रबीन्द्र गांधी को 'महात्मा' का सम्बोधन।

इन गुरुदेव और महात्मा ने विश्व के समक्ष भारत का माथा गौरवान्वित करने में कैसी ऐतिहासिक भूमिका निभाई, इस सम्बन्ध में प्रसिद्ध निबन्धकार कुबेरनाथ का यह वक्तव्य गौर करने लायक है– ''विश्व इतिहास में उन्नीसवीं शती तक आते-आते भारतवर्ष अपनी

प्रतिष्ठा का मुकदमा हार चुका था। परन्तु उसे अन्तिम पराजय से बचाने वाले भारतीयों में तीन नाम विशेष रूप से आते हैं विवेकानन्द, रबीन्द्रनाथ और तीसरा एक अपेक्षाकृत अल्पज्ञात नाम है सर आनन्द कुमार स्वामी। पहले ने उसकी दार्शनिक महिमा को विश्व इतिहास की अदालत में उपस्थित किया, दूसरे ने साहित्यिक महिमा को और तीसरे ने उसकी कलात्मक गरिमा को। इन तीनों ने मिलकर भारतीय अस्मिता को पश्चिम के मुकाबले में खड़ा ही नहीं किया प्रतिष्ठित किया। अस्मिता का अर्थ व्यक्तित्व होता है। परन्तु भारत की आत्मा को जो अस्मिता से भी सूक्ष्मतर-गम्भीरतर सत्ता है विश्व इतिहास की अदालत में उपस्थित करना शेष था और यह काम किया था महात्मा गांधी ने अपने व्यापक और सहज जीवन के द्वारा। विश्व इतिहास के आधुनिक दौर में यही चार हमारे वकील हैं— विवेकानन्द, रबीन्द्रनाथ, कुमार स्वामी और गांधीजी। इन्हीं के बल पर हम अपनी खोयी हुई प्रतिष्ठा पा गये।'' (पत्र मणिपुतुल के नाम पृ. 50, प्र. गांधी शान्ति प्रतिष्ठान, नई दिल्ली) भारतवर्ष की खोयी हुई प्रतिष्ठा को विश्व इतिहास की अदालत में पुन: प्रतिष्ठित करने में राय साहब ने चार व्यक्ति के नामोल्लेख किये हैं, लेकिन प्रस्तुत आलेख में शीर्षक के मुताबिक हम सिर्फ रबीन्द्रनाथ और गांधीजी के आपसी सम्वाद-विवाद, सहमति-असहमति के बिन्दुओं से गुजरते हुए उनकी परस्पर पूरकता, सहधर्मिता को उजागर करने तक अपना विवेचन केन्द्रित रखेंगे।

सर्वविदित है कि लगभग बीस वर्षों तक मोहन दास करमचंद गांधी दक्षिण अफ्रीका में भारतीयों के साथ रंगभेद, नस्लभेद के आधार पर गोरी सरकार द्वारा किये जा रहे अन्याय, अत्याचार के विरुद्ध सत्याग्रह-संग्राम चला कर न केवल भारतवर्ष, अपितु विश्व के प्रबुद्ध जनों के बीच भी काफी प्रसिद्ध हो चुके थे। उसी का परिणाम था कि 1915 में भारत आने के तुरन्त बाद ही उनके लिए जैसा कि धर्मपाल जी ने लिखा है, जैतपुर में 21 जनवरी 1915 को किये नागरिक अभिनन्दन में दिये गये प्रशस्ति-पत्र में कदाचित पहली बार 'महात्मा' शब्द का प्रयोग किया गया। तत्पश्चात उनके जहाँ-जहाँ भी नागरिक अभिनन्दन हुए उनमें उनके लिए 'कर्मवीर महात्मा' जैसी उपाधियों का प्रयोग होने लगा और जो मोहनदास दक्षिण अफ्रीका में गांधी भाई के रूप में जाने जाते रहे, वे अपने देश में 'महात्मा' के रूप में समाद्धृत होते गये। दूसरी तरफ 1913 में न केवल प्रथम भारतीय अपितु प्रथम एशियाई के रूप में नोबेल पुरस्कार प्राप्त कर रबीन्द्रनाथ विश्व कवि के रूप में समाद्धृत हो चुके थे। अपने-अपने कार्यों से ये दोनों ही एक-दूसरे को सम्मोहित कर रहे थे। यही कारण था कि जब नौ जनवरी 1915 को गांधी दक्षिण अफ्रीका से अपने कई सत्याग्रही-साथियों के साथ भारत आये तो वे उसी साल फरवरी महीने में करीब एक महीना तक अपने साथियों के साथ रबीन्द्रनाथ के सान्निध्य में शान्ति निकेतन में ठहरे रहे। इस दौरान दोनों ही एक दूसरे के कार्यों तथा विचारों को परखते रहे और अपने बीच एक सामान्य भारतीय मनोभूमि एवं चित्तवृत्ति की उपस्थिति पाकर वे एक दूसरे के समीप होते गये। परस्पर वैचारिक

समरूपता का ही परिणाम हुआ कि गांधी रबीन्द्र को 'गुरुदेव' कहने लगे तो रबीन्द्र गांधी को 'महात्मा'।

एक-दूसरे के प्रति आदर-भाव से इतने ओत-प्रोत होने के बावजूद न महात्मा 'गुरुदेव' के अन्ध शिष्य बने रहे, न रबीन्द्र 'महात्मा' के अन्ध भक्त। देशहित एवं विश्व हित से जुड़े ऐसे कई मुद्दे थे जिन्हें लेकर दोनों में वैचारिक टकराव भी होते रहे। इनके बीच जबर्दस्त वैचारिक टकराव तब सामने आया जब 1920 में गांधी ने पूरे देश में ब्रिटिश शासन को अपदस्थ कर स्वराज्य लाने के लिए असहयोग आन्दोलन छेड़ दिया। इस आन्दोलन के दौरान गांधी देश में घूम-घूम कर सरकारी नौकरियों तथा शिक्षण संस्थानों का परित्याग करने, विदेशी वस्तुओं का बहिष्कार करने की जोरदार गुहार लगाने लगे। परिणामस्वरूप उस समय देश के जाने माने मोतीलाल नेहरू, चित्तरंजन दास, राजगोपालाचार्य, वल्लभ भाई पटेल, राजेन्द्र प्रसाद जैसे बैरिस्टरों ने वकालत छोड़ दी, विद्यार्थियों ने सरकारी विद्यालयों महाविद्यालयों का परित्याग कर दिया और जनता विदेशी वस्तुओं की होली जलाने लगी। ऐसे कार्यों से विश्वकवि का चित्त उद्विग्न हो उठा और इसमें उन्हें अन्धा राष्ट्रवाद या संकीर्ण राष्ट्र प्रेम का जहर दिखाई पड़ने लगा। इसलिए महाकवि ने कोलकाता के यूनिवर्सिटी इंस्टीट्यूट हॉल में 29 अगस्त 1921 को अपना लम्बा उद्बोधन दिया जो 'सत्य का आह्वान' (The cUll of Truth) नाम से 'मार्डन रिव्यू' नामक पत्रिका के अक्टूबर अंक में भी छपा। इस लेख में रबीन्द्रनाथ ने भारत की दीर्घकालीन सहिष्णुता, तितिक्षा, उदात्तता की परम्पराओं का उल्लेख करते हुए विदेशी वस्तुओं को जलाने जैसे कार्य को अन्ध राष्ट्रवाद का लक्षण बताया, गांधी द्वारा मशीनों के बदले चरखे को अपनाये जाने के तर्क को अव्यावहारिक, प्रगतिविरोधी बताया अर्थात् रबीन्द्र गांधी की असहयोग-रणनीति से पूरी तरह सहमत नहीं थे।

लेकिन इसका मतलब यह भी नहीं कि वे गांधी को धिक्कारने लायक समझते थे। उसी लेख में गांधी के प्रति उनके जो उदात्त भावोद्गार प्रकट हुए हैं वे देखने लायक हैं— ''आज देश में जो आन्दोलन चल रहा है वह बंग विभाजन के आन्दोलन से बहुत बड़ा है। उसका प्रभाव सारे भारतवर्ष पर पड़ रहा है। बहुत दिन तक हमारे नेताओं ने अंग्रेजी शिक्षा प्राप्त लोगों के अतिरिक्त किसी की ओर दृष्टिपात नहीं किया, उनके लिए 'देश' नाम की वस्तु वही थी जो अंग्रेजी इतिहास पुस्तकों में मिलती है। वह देश अंग्रेजी भाषा की वाष्प से निर्मित एक मरीचिका जैसा था। उस मरीचिका में बर्क, ग्लैडस्टन, मैंजिनी, गैरीबाल्डी की अस्पष्ट प्रतिमाएँ ही दिखाई पड़ती थी। उसमें प्रकृत आत्मयोग या देश के लोगों के प्रति यथार्थ सहानुभूति नहीं थी। ऐसे समय महात्मा गांधी भारत के कोटि-कोटि गरीबों के द्वार पर आकर खड़े हुए। उन्होंने लोगों से उनकी अपनी भाषा में उनकी अपनी बातें कहीं। यह एक सत्य वस्तु थी, इसमें पुस्तकीय 'दृष्टान्त' नहीं थे। इसलिए उन्हें जो महात्मा का नाम

दिया गया है वह सत्य नाम है। भारत के इतने लोगों को अपना आत्मीय समझने वाला और कौन है। आत्मा में जो शक्ति का भण्डार है वह सत्य का स्पर्श लगते ही उन्मुक्त हो जाता है। जैसे ही सत्य, प्रेम भारतवासियों के अवरुद्ध द्वार पर खड़ा होता है, वह द्वार खुल जाता है। चातुर्य पर आधारित राजनीति वंध्या है— इस बात की शिक्षा हमारे लिए बहुत दिन तक आवश्यक रही है। महात्मा के प्रसाद से आज हमने प्रत्यक्ष देखा है कि सत्य में कितनी शक्ति है। लेकिन चातुर्य है भीरू और दुर्बल लोगों का सहज धर्म-उसका विनाश करना हो तो उसे जड़ से काटना पड़ता है। आजकल बहुत से बुद्धिमान लोग महात्मा के प्रयत्न को भी अपने राजनीतिक खेल की गुप्त चालों में शामिल कराना चाहते हैं। उनका मन, जो मिथ्या से जीर्ण हो गया यह नहीं समझ पाता कि महात्मा के प्रेम से देश के हृदय में जो प्रेम छलक उठा वह कोई अवान्तर चीज नहीं है— उसमें ही मुक्ति है, उसमें ही देश अपने आप को प्राप्त कर सकता है।''

इसी आलेख में आगे चल कर रबीन्द्रनाथ यह कहते हैं— ''महात्मा ने अपने सत्य-प्रेम से भारत का हृदय जीत लिया है और इसके लिए हम सब उनकी श्रेष्ठता स्वीकार करते हैं। इस सत्य की शक्ति को प्रत्यक्ष देखकर आज हम कृतार्थ हैं। चिरन्तन सत्य के बारे में पुस्तकों में पढ़ते हैं, उसकी चर्चा करते हैं, लेकिन जब उसे सामने देखते हैं वह हमारे लिए पुण्य क्षण है। बहुत दिनों के बाद अकस्मात हमें यह सुयोग मिला है। कांग्रेस तो हम रोज बना सकते हैं और भंग कर सकते हैं, भारत के प्रदेश-प्रदेश में अंग्रेजी भाषा में राजनीतिक भाषण देना भी हमारे लिए सरल है, लेकिन सत्य प्रेम का वह स्वर्णदण्ड जिसके स्पर्श से सदियों के बाद चित्त जाग उठा, मोहल्ले की सुनार की दुकान में नहीं बनता। जिनके हाथ में यह दुर्लभ वस्तु देखी उन्हें हम प्रणाम करते हैं।'' (रबीन्द्रनाथ टैगोर के प्रतिनिधि निबन्ध, सं. डॉ. कृष्ण दत्त पालीवाल, प्र. सस्ता साहित्य मंडल, नई दिल्ली)।

रबीन्द्रनाथ के उपरोक्त शब्दों में गांधी के युगान्तरकारी महत्व की जिस शालीनता, औदात्य के धरातल पर अभिव्यंजना हुई है, वह कुछेक असहमतियों के बावजूद गांधी के प्रति रबीन्द्र की गहरी संशक्ति का प्रमाण है। इसका यहाँ अलग से भाष्य करने की जरूरत नहीं। गांधी भी चुप नहीं बैठे रहे। उन्होंने 'यंग इंडिया' के 13 अक्टूबर 1921 के अंक में The Great Sentinel (महान प्रहरी) नाम से लेख लिखा जिसमें उन्होंने रबीन्द्र की राष्ट्रवाद तथा विश्वबन्धुत्व को लेकर, चरखा तथा खादी को लेकर उठाई गई शंकाओं का निराकरण करते हुए बताया कि कैसे चरखा को अपनाकर करोड़ों भारतवासियों को रोजगार दिया जा सकता है, आर्थिक रूप से देश को स्वावलम्बी बनाया जा सकता है और स्वावलम्बन तथा स्वराज्य प्राप्त करके ही भारत विश्वबन्धुत्व को बढ़ाने में अपनी भूमिका निभा सकता है। इसलिए उन्होंने कवि से भी चरखा चलाने की अपील की। लेकिन इस लेख में रबीन्द्र से अपनी असहमतियाँ दर्ज करने के पूर्व गांधी भी जिस शालीनता और

औदात्य के धरातल पर रबीन्द्रनाथ को याद करते हैं वह भी देखने लायक है— ''शान्ति निकेतन के नायक ने 'मार्डन रिव्यू' में वर्तमान आन्दोलन पर एक बड़ा सुन्दर लेख लिखा है। वास्तव में यह शब्द-चित्रों की एक आकर्षक मालिका है जिसे केवल वे ही गूँथ सकते थे। इसमें आप्तत्व के खिलाफ मानसिक दासता के खिलाफ-अर्थात् भय में आशा से किसी की सनक का आँख मूँद कर अनुकरण करने को जिस नाम से भी पुकारा जाए, उसके खिलाफ एक जोरदार आवाज उठायी गई है। वह हम सभी कार्यकर्ताओं को इस बात की याद दिलाता है कि हमें धीरज नहीं खोना चाहिए, किसी पर जबर्दस्ती किसी का मत नहीं लादना चाहिए चाहे वह कितने ही बड़ा आदमी का क्यों न हो। इस रूप में यह लेख कल्याणकर तथा स्वागत करने लायक है। कविवर हमसे कहते हैं कि जो चीज बुद्धि या हृदय को ठीक न लगे उसे तुरन्त अस्वीकार कर देना चाहिए। अगर हम स्वराज्य पाना चाहते हैं तो हमें हर हालत में सत्य के उस रूप पर दृढ़ रहना चाहिए जिस रूप में हम उसे जानते हैं। ..... मैं यह अच्छी तरह जानता हूँ कि प्रेम के आगे आँख मूँद कर आत्म-समर्पण कर देना अक्सर अत्याचारी के अत्याचार को लाचार होकर स्वीकार करने से भी अधिक अनिष्टकारी सिद्ध होता है। जो अत्याचारी का गुलाम है उसकी मुक्ति की आशा तो फिर भी है, किन्तु प्रेम के गुलाम के लिए कोई आशा नहीं है। प्रेम की उपयोगिता दुर्बलों में बल का संचार करने में है और उस दृष्टि से वह जरूरी है, लेकिन जब प्रेम के कारण किसी बात में विश्वास न करने वाला व्यक्ति भी उसको मानने लगता है तो प्रेम अत्याचार हो जाता है। किसी मन्त्र का महत्व जाने बिना उसका जप करना पुरुषोचित नहीं कहा जा सकता। इसलिए कविवर ने जो लोग चरखे की पुकार पर बिना सोचे-समझे अन्धभाव से चल रहे हैं, उन सबसे विद्रोह करने को कहकर ठीक ही किया है। हममें से जो लोग अधीर होकर अपने से भिन्न मत रखने वालों के प्रति असहिष्णुता या यहाँ तक कि हिंसा से भी काम लेते हैं, उन सबके लिए यह लेख एक चेतावनी है। मैं कविवर को एक प्रहरी मानता हूँ, जो हमें हठधर्मी, बौद्धिक आलस्य, असहिष्णुता, अज्ञान, जड़ता और इसी तरह के अन्य शत्रुओं के आगमन के खिलाफ आगाह कर रहा है।'' (सम्पूर्ण गांधी वांग्मय, खंड 21, पृ. 308)

इन दो महान विभूतियों की आपसी असहमति में भी एक दूसरे के प्रति जिस उच्च धरातल पर आदर एवं सम्मान के भाव व्यक्त हुए हैं वही किसी की महानता के लक्षण होते हैं। वे दोनों ही तत्कालिक आन्दोलन की कार्यपद्धति को लेकर एक दूसरे से असहमत थे किन्तु एक दूसरे के महत्व को स्वीकार करने में मानों दोनों एक दूसरे से होड़ कर रहे थे। ऐसी असहमति के बावजूद दोनों के बीच संवाद का अनवरत सिलसिला चलता रहा। गांधी चरखे के माध्यम से जिस दैत्याकार मशीनीकरण का विरोध कर रहे थे, उससे रबीन्द्रनाथ पूरी तरह सहमत नहीं हो पा रहे थे। जब फरवरी 1924 में जेल से रिहा किये जाने के बाद गांधी फिर रचनात्मक कार्यक्रम के अन्तर्गत चरखे एवं खादी के देश व्यापी प्रचार में पिल

पड़े तब फिर कविवर ने 'The Cult of the Charkha' नाम से लेख लिखा जो 'मॉडर्न रिव्यू' 1925 के सितम्बर माह के अंक में छप कर सामने आया। इसके प्रत्युत्तर में गांधी ने 'The Poet and the Charkha' नामक लेख लिखा जो 'यंग इंडिया' के 05.11.1925 के अंक में छपा। यद्यपि इस बार चरखे के प्रति कविवर के रूख में थोड़ी नरमी थी, किन्तु उसकी व्यवहार कुशलता को लेकर शंकाएँ जरूर थीं। गांधी ने फिर रबीन्द्रनाथ की शंकाओं का समाधान करते हुए चरखे को भारतवर्ष की गरीबी मिटाने तथा ऊँच-नीच, अमीर-गरीब के बीच समानता लाने का अमोघ अस्त्र बताया। बहराल इन छोटे-मोटे मतभेदों के बावजूद दोनों के हृदय में एक दूसरे के प्रति आदर एवं प्रेम का सागर लहराता रहा। इसी समय गांधीजी द्वारा 'मॉडर्न रिव्यू' के सम्पादक रामानन्द बाबू को लिखे पत्र में रबीन्द्रनाथ के सम्बन्ध में उनका यह उद्‌गार देखने लायक है— ''एक सुधारक के नाते मैं उनका विरोध जरूर करूँ, परन्तु उनके कवित्व का मुकाबला कौन कर सकेगा? आज दुनिया में बहुत सुधारक हैं, परन्तु कवित्व शक्ति में उनकी बराबरी करने वाला कोई नहीं है। उनके अन्य गुण कितने ही महान हों, तो भी उनकी कवित्व-शक्ति के साथ उनका उल्लेख करने में तो मुझे ऐसा लगता है कि उनकी कविता की अप्रतिम प्रतिभा से इन्कार किया जा रहा है।'' (महादेव भाई की डायरी खंड 6, पृ. 213, सर्व सेवा संघ प्रकाशन, वाराणसी)।

यहाँ अवान्तर सी प्रतीत होने वाली यह बात भी जानने लायक है कि रबीन्द्रनाथ के बड़े भाई द्विजेन्द्रनाथ टैगोर तो रबीन्द्र से भी अधिक गांधीजी की महानता के कायल थे। वे 'बड़ो दादा' के रूप में जाने जाते थे। उम्र में वे रबीन्द्र से लगभग बीस वर्ष बड़े थे और वेद, उपनिषद, गीता आदि के गहरे अध्येता थे। उनका 1925 में निधन हुआ था। वे गांधीजी से किस कदर अभिभूत थे, इसका प्रमाण है उनका यह कथन— ''हम सब जानते हैं कि गांधी काम, क्रोध, लोभ, मद, मत्सर के कीचड़ से निकल कर बहुत ऊँची भूमिका से अपना कार्य करता है। गांधी में रणोन्मत्तता जैसी चीज नहीं है, वह तो अहिंसा का एकान्तिक सेवक है। वह आवेश या नशे में एक भी प्रवृत्ति नहीं कर सकता। इसलिए ऐसे मनुष्य के मोहमुक्त, विशुद्ध साधुजनोचित सत्कार्य में सर्वान्त: करण पूर्वक शरीक होने में ही श्रेय है। मेरा तो ध्रुव विश्वास है कि गांधी जैसा सौ ट्रंच का सोना इस घोर कलिकाल में मिलना दुलर्भ है। इस सोने का व्यापार क्यों न कर लें।'' (महादेव भाई की डायरी, खंड सात, पृ. 27 सर्वसेवा संघ, वाराणसी)

चरखे को लेकर रबीन्द्र, गांधी की सफलता के प्रति जरूर सशंकित थे, लेकिन देशहित के अन्य मुद्दों पर वे गांधी का खुलेमन से समर्थन करने में पीछे नहीं रहे। उल्लेखनीय है कि जब अगस्त 1932 में ब्रिटिश सरकार ने अस्पृश्यों को पृथक निर्वाचन मंडल देने के निर्णय की घोषणा की तो गांधी ने इसके प्रतिरोध में आमरण अनशन की घोषणा कर डाली और 20 सितम्बर से यरवदा जेल में बन्दी गांधी ने आमरण अनशन

शुरू कर दिया। गांधी के इस अनशन से पूरा देश हिल उठा। मदन मोहन मालवीय, राजगोपालाचार्य, राजेन्द्र प्रसाद, तेज बहादुर सप्रु जैसे बड़े-बड़े नेता यरवदा जेल से लेकर डॉ. अम्बेडकर तक समझौता कराने के लिए दौड़ लगाने लगे। कविवर रबीन्द्र भी शान्ति निकेतन में शान्त नहीं रह सके। गांधी के इस निर्णय से चमत्कृत होते हुए उन्होंने अपनी जबर्दस्त आवाज गांधीजी के उद्देश्य के समर्थन में पूना पहुँच कर उठायी। पूना की एक सार्वजनिक सभा में कवीन्द्र रबीन्द्र ने कहा– ''आज हम युगों से चली आई दासता के उस बोझ को जिसने मानवता का तिरस्कार किया, उन झुकी हुई पीठों से उतारने में, जो इस कालिमा के शिकार केवल अपने जन्म के कारण हुए, महात्मा जी के दिव्य कार्य में दृढ़ संकल्प होकर सहयोग दें। हम केवल भारत की नैतिक गुलामी की जंजीरों को ही नहीं तोड़ रहे हैं, बल्कि समस्त मानवता का भी पथ प्रदर्शित कर रहे हैं। हम अन्याय को चुनौती दे रहे हैं, चाहे वह जिस रूप में जहाँ कहीं हो कि वह हमारी अन्तरात्मा की उस चिरंतन पुकार का उत्तर दे, जो महात्मा जी ने हमारे जीवन में प्रस्थापित की है।'' (महात्मा गांधी, पृ. 153 ले. आचार्य जे. बी. कृपलानी)।

रबीन्द्रनाथ ने जिस 'दासता के बोझ और 'अन्तरात्मा की उस चिरंतन पुकार' की बात कही उसका सम्बन्ध गांधी के उस अस्पृश्यता उन्मूलन अभियान से था जिसे वे 1920 से ही राष्ट्रीय स्तर पर चला रहे थे। इस क्रम में दक्षिण में कन्याकुमारी तक, पश्चिम में महाराष्ट्र, गुजरात तक तथा पूरब में ढाका-चटगाँव तक अपने अस्पृश्यता उन्मूलन अभियान को फैला चुके थे। इसी क्रम में उन्हें कई जगहों पर अस्पृश्यता को शास्त्र सम्मत मानने वाले सनातनी सवर्ण हिन्दुओं के कड़े प्रतिरोध का सामना करना पड़ा, अपमान का गरल घूँट तक पीना पड़ा। इसी अस्पृश्यता को आधार बना कर ब्रिटिश सरकार अस्पृश्यों का शेष हिन्दुओं से अलग द्वीप बनाना चाहती थी जिसका गांधीजी ने आमरण अनशन करके विरोध किया और फिर बहुतों के समझाने पर डॉ. अम्बेडकर ने समझौता कर इस विभाजनकारी चाल को अप्रभावी होने दिया। रबीन्द्र ने अपने इस वक्तव्य से गांधी के इस अस्पृश्यता विरोध को ही समर्थन दिया था दरअसल गांधी के अस्पृश्यता उन्मूलन की मुहिम का जिस तरह कट्टरपंथी सवर्ण हिन्दू विरोध कर रहे थे, वही 1934 में बिहार में भूकम्प से भीषण तबाही होने के समय गांधी के इस क्षोभ के रूप में प्रकट हुआ था जब उन्होंने भूकम्प को अस्पृश्यता के पाप का ईश्वर द्वारा दिया गया दण्ड बताया था। हालाँकि गांधी के इस वक्तव्य से रबीन्द्रनाथ ने अपनी असहमति प्रकट की थी और इसे ईश्वर प्रदत्त दण्ड न मान कर भौगोलिक, प्राकृतिक परिवर्तनों की उपज बताया था। लेकिन बावजूद इसके दोनों के मन में मनोमालिन्य नहीं आया, न एक दूसरे की महानता को स्वीकार करने में कमी आई। यहाँ द्रष्टव्य है रबीन्द्रनाथ द्वारा 2 अक्टूबर 1937 को गांधी जयन्ती के अवसर पर शान्ति निकेतन मन्दिर में दिये गये भाषण के कुछ अंश।

गांधी से पूर्व के राष्ट्रीय नेताओं का स्मरण करते हुए रबीन्द्रनाथ ने कहा– ''प्रादेशिकता के जाल में फँस कर और दुर्बलता से पराजित होकर जब हमारा पतन हुआ था, उस समय रानाडे, गोखले और सुरेन्द्रनाथ जैसे लोग जनसाधारण को गौरव प्रदान करने के लिए महान उद्देश्यों को लेकर आये। उनके द्वारा आरम्भ की गई साधना को आज एक महापुरुष ने अपनी प्रबल शक्ति से बड़ी तेजी के साथ, सफलता के मार्ग पर बढ़ाया है। उसी महापुरुष की अर्थात् महात्मा गांधी की बातों को स्मरण करने के लिए हम आज यहाँ एकत्रित हुए है।''

इसी उद्‌बोधन में रबीन्द्रनाथ ने अन्य राजनीतिक लोगों के साथ गांधीजी की तुलना करते हुए कहा, ''पॉलिटिशियन लोगों की चतुराई के लिए हम उनकी प्रशंसा कर सकते हैं, लेकिन भक्ति नहीं कर सकते। भक्ति तो हम कर सकते हैं महात्मा गांधी की जिनकी साधना सत्य की साधना है। मिथ्या के साथ समझौता करके उन्होंने सत्य की सार्वभौम धर्मनीति को अस्वीकार नहीं किया। भारत की युग साधना के लिए यह परम सौभाग्य का विषय है। महात्मा गांधी ही ऐसे पुरुष हैं जिन्होंने प्रत्येक अवस्था में सत्य को माना है चाहे वह सुविधाजनक हो या न हो। उनका जीवन हमारे लिए एक महान उदाहरण है। दुनिया में स्वाधीनता लाभ का इतिहास रक्त की धारा से पंकिल है, अपहरण और दस्यु-वृत्ति से कलंकित है। लेकिन महात्मा गांधी ने यह दिखाया है कि हत्याकांड को आश्रय दिये बगैर भी स्वाधीनता प्राप्त की जा सकती है।'' (रबीन्द्रनाथ के प्रतिनिधि निबन्ध, सं. कृष्णदत्त पालीवाल, प्र. सस्ता साहित्य मंडल, नई दिल्ली)

जाहिर है रबीन्द्र के दिलो-दिमाग पर गांधी का सत्य-अहिंसा के आग्रह तथा उस पर चलते रहने की दृढ़ता किस कदर छायी हुई थी कि वे उनकी (गांधी की) 'भक्ति करने' तक की बात कह जाते हैं। दूसरी तरफ रबीन्द्र के प्रति गांधीजी के भी श्रद्धावनत भाव में कभी कमी नहीं आई जिसे वे भी समय-समय पर अपने भाषणों में एवं लेखों में व्यक्त करते रहे। असहयोग आन्दोलन के सम्बन्ध में रबीन्द्रनाथ की शंकाओं को निर्मूल करते हुए गांधीजी ने 01.06.1921 के 'यंग इंडिया' में जो लेख लिखा उसमें कविवर के महत्व को इन शब्दों में उजागर किया था- लार्ड हॉर्डिंग्ज ने डॉक्टर रबीन्द्रनाथ टैगोर को एशिया के महाकवि की पदवी दी थी, पर अब रबीन्द्र बाबू न सिर्फ एशिया बल्कि संसार भर के महाकवि गिने जा रहे हैं। दिन-पर-दिन उनकी प्रतिष्ठा और प्रभाव बढ़ रहा है जिससे उनकी जिम्मेदारी भी दिन-पर-दिन बढ़ती जा रही है। उनके हाथ से भारतवर्ष की सबसे बड़ी सेवा यह हुई है कि उन्होंने अपनी कविता द्वारा भारतवर्ष का संदेश संसार को सुनाया है। इसी से रबीन्द्र बाबू को सच्चे हृदय से इस बात की चिन्ता है कि भारतवासी भारत-माता के नाम से कोई झूठा या सारहीन संदेश संसार को न सुनावें। हमारे देश का नाम न डूबने पावे, इस बात की चिन्ता करना रबीन्द्र बाबू के लिए स्वाभाविक ही है।''

रबीन्द्रनाथ के सम्बन्ध में गांधीजी की कितनी उच्च कोटि की धारणा थी, इसकी एक मिसाल गांधीजी के सचिव महादेव भाई देसाई की डायरी में गांधीजी के इस कथन में मिलती है— ''टैगोर की क्या बात। उन्होंने क्या नहीं साधा। साहित्य का एक भी क्षेत्र उन्होंने छोड़ा है? ऐसी अलौकिक शक्तिवाला आदमी हमारे यहाँ तो है ही नहीं, लेकिन दुनिया में भी होगा या नहीं, इसमें मुझे शक है।''

गांधीजी ने शान्ति निकेतन जाना 1915 से शुरू किया और रबीन्द्रनाथ के जीवन काल तक वह सिलसिला चलता रहा। रबीन्द्रनाथ का आशीर्वाद प्राप्त कर वे अपने को कितना कृतार्थ महसूस करते थे, इसकी एक झलक उनके 30.03.1940 के 'हरिजन सेवक' में लिखे लेख में इस प्रकार मिलती है— ''शान्ति निकेतन और मलिकन्दा की यह यात्रा मेरे लिए तीर्थ यात्रा है। सचमुच इस बार शान्ति निकेतन मेरे लिए 'शन्ति' का 'निकेतन' सिद्ध हुआ। मैं यहाँ राजनीति की सब चिन्ता और झंझट छोड़कर मात्र गुरुदेव के दर्शन और आर्शीवाद लेने आया हूँ। मैंने अक्सर एक कुशल भिक्षुक होने का दावा किया है। लेकिन आज गुरुदेव का मुझे जो आर्शीवाद मिला है उससे बढ़कर दान मेरी झोली में कभी किसी ने नहीं डाला। मैं जानता हूँ कि उनका आर्शीवाद तो मुझे हमेशा ही है। मगर रूबरू मुझे आर्शीवाद मिला और इस कारण मेरे हर्ष का पार नहीं।'' ध्यातव्य है रबीन्द्रनाथ का 'एकला चलो रे' गीत गांधीजी को अत्यन्त प्रिय रहा।

7 अगस्त 1941 को रबीन्द्रनाथ के निधनोपरान्त गांधीजी ने 'हरिजन सेवक' में इस प्रकार के श्रद्धासिक्त शोकोदगार प्रकट किये— ''डॉ. रबीन्द्रनाथ टैगोर के निधन से हमने न केवल अपने युग के सबसे बड़े कवि को ही बल्कि एक उत्कृष्ट राष्ट्रवादी को जो कि मानवता का पुजारी भी था, खो दिया है। शायद ही कोई ऐसी सार्वजनिक प्रवृत्ति होगी जिस पर उनके शक्तिशाली व्यक्तित्व की छाप न पड़ी हो। शान्ति निकेतन और श्रीनिकेतन के रूप में उन्होंने समस्त राष्ट्र के लिए ही नहीं, अपितु समस्त संसार के लिए विरासत छोड़ी है।'' (रबीन्द्रनाथ के सम्बन्ध गांधीजी के उपरोक्त उद्‌गार गांधीजी की संस्मरणात्मक पुस्तक 'मेरे समकालीन' से उद्‌धृत है। प्र. सस्ता साहित्य मंडल, नई दिल्ली)

उपरोक्त बातों को ध्यान में रखते हुए हम कह सकते हैं कि रबीन्द्र और गांधी के आपसी सम्बन्ध सहमति-असहमति के तटबन्धों से गुजरते हुए अन्ततः जहाँ एकाकार हो जाते हैं वह है देशहित से समाविष्ट विश्व कल्याण एवं मानवता का महासमुद्र-इसी संधि-स्थल पर एक 'गुरुदेव' तो दूसरे 'महात्मा' एक 'महाकवि' तो दूसरे 'महापुरुष' होने के सच्चे पदवीधारी सिद्ध होते हैं। इन वैचारिक समरूपताओं का प्रभाव इन दोनों की जीवन-शैली, शिक्षण-पद्धति आदि पर भी देखा जा सकता है।

ध्यातव्य है कि रबीन्द्र और गांधी पश्चिमी शिक्षा से बखूबी परिचित होने के कारण उसे भारत की दीर्घकालीन चित्तवृत्ति के अनुरूप कल्याणकारी नहीं मानते थे। यद्यपि रबीन्द्रनाथ के

सामने ही कोलकाता में अंग्रेजी शिक्षा के लिए विद्यालयों, महाविद्यालयों तथा विश्वविद्यालयों के भव्य, भीमकाय भवन बन चुके थे। लेकिन रबीन्द्रनाथ के चित्त को शिक्षण का यह पश्चिमी ढंग नहीं भाया और उन्होंने 1901 ई. में कोलकाता के कोलाहल से दूर बोलपुर के वन प्रान्त में भारत की आश्रमवासी (Hermit Tradition) परम्परा का अनुसरण करते हुए शिक्षण कार्य शुरू किया प्रकृति के खुले प्रांगण में। शिक्षा का माध्यम मातृभाषा को बनाया और वे आजीवन मातृभाषा के माध्यम से बच्चों को शिक्षा देने के पक्षधर रहे। दूसरी तरफ गांधी ने भी ऐसी ही आश्रमवासी जीवन-शैली को प्रश्रय दिया और उसे शिक्षण का भी केन्द्र बनाया जहाँ मातृभाषा में शिक्षा दी जाती थी। 1903 में गांधीजी ने दक्षिण अफ्रीका के डरबन शहर से थोड़ी दूर 80 एकड़ जमीन में फीनिक्स आश्रम की स्थापना की, 1910 में जोहान्सबर्ग के पास 1100 एकड़ जमीन टॉल्सटॉय आश्रम बनाया। भारत आने पर अहमदाबाद में पहले उन्होंने 1915 में कोचरब सत्याग्रह आश्रम की स्थापना की जिसे 1917 में साबरमती में स्थानान्तरित किया गया। 1936 में उन्होंने सेवाग्राम आश्रम की स्थापना की। इन आश्रमों में बालक-बालिका, युवक-युवती, बूढ़े-बूढ़ी सबको आश्रय सुलभ था। आश्रम में होने वाले कार्यों में मातृभाषा में बच्चों को शिक्षा देने का काम भी चलता रहा। अर्थात् भारतीय चित्त में ढले इन दोनों विभूतियों ने आधुनिकता के तुमुल कोलाहल के बावजूद भारत की आश्रमाश्रित जीवन शैली को ही देश के लिए कल्याणकारी समझा।

रबीन्द्रनाथ पर गांधी के प्रभाव का एक उदाहरण है हिन्दी को राष्ट्रभाषा के रूप में मान्य करना। भारत आने के बाद गांधीजी पूरे देश के लिए सम्पर्क भाषा की आवश्यकता महसूस करते हुए राष्ट्रभाषा के रूप में हिन्दी का जोर-शोर से प्रचार करने में पिल पड़े। वे 1918 में इंदौर में हुए हिन्दी साहित्य सम्मेलन के अध्यक्ष बनाये गये थे। सम्मेलन से पूर्व गांधीजी ने देश के कई बड़े नेताओं को पत्र लिखकर हिन्दी को राष्ट्रभाषा मान्य करने के सम्बन्ध में राय मांगी थी। यह पत्र रबीन्द्रनाथ को भी भेजा गया था। अपनी राय देते हुए रबीन्द्रनाथ ने लिखा था— ''अन्त: प्रान्तीय व्यवहार के लिए निश्चय ही हिन्दी को राष्ट्रभाषा के रूप में स्वीकार किया जाना चाहिए।''

प्रसंगवश यह भी जानने लायक बात है कि गांधीजी लोकमान्य तिलक, रबीन्द्रनाथ आदि से भी सार्वजनिक सभाओं में हिन्दी में बोलने का आग्रह करते रहे। गांधी की प्रेरणा से लोकमान्य तिलक ने हिन्दी सीखना बोलना शुरू भी कर दिया था लेकिन असामयिक मृत्यु ने उनसे यह काम पूरा नहीं होने दिया। रबीन्द्रनाथ ने तो इतनी तेजी से हिन्दी में प्रगति की अप्रैल 1920 में काठियावाड़ में उन्होंने पहला भाषण हिन्दी में किया। हिन्दी को राष्ट्रभाषा के रूप में अपनाने हेतु जनमत को जाग्रत करने में रबीन्द्रनाथ गांधी का पूरा सहयोग करते रहे।

रबीन्द्रनाथ और गांधी दोनों के ही चिन्तन, जीवन-बोध का मुख्य आधार भारतीय वांग्मय रहा। वेद, उपनिषद, गीता, रामायण, महाभारत के सार तत्व को गांधी ने भी ग्रहण किया

और रबीन्द्रनाथ के जीवन दर्शन में भी ये ही पाथेय स्वरूप रहे। 'गीतांजलि' के सम्बन्ध में गांधीजी यही कहा करते थे कि उसमें उपनिषदों का निचोड़ है। यह बात भी विशेष रूप से ध्यान में रखने की है कि गांधी के आश्रम में होने वाली प्रातः कालीन प्रार्थनाओं में पहला श्लोक ईशावास्योपनिषद का यह हुआ करता था— ''ईशावास्यम् इदम् सर्वम् यत् किंच जगत्यां जगत् तेन त्यक्तेन भुंजीथाः मा गृधः कस्यविद धनम्।'' यही नहीं, गांधी अक्सर सार्वजनिक सभाओं में भी इस श्लोक को उद्धृत कर त्याग के साथ भोग करने के जीवन-सूत्र पर अमल करने पर बल देते रहे। दूसरी तरफ रबीन्द्रनाथ को भी यह श्लोक उतना ही प्रिय था। अपने 'तपोवन' शीर्षक लेख में रबीन्द्रनाथ एक जगह कहते हैं— ''हमें समग्र के लिए अंश का त्याग करना है, नित्य के लिए क्षणिक का, प्रेम के लिए अहंकार का, आनन्द के लिए सुख का त्याग करना है। इसलिए उपनिषद में कहा गया है 'तेन त्यक्तेन भुंजीथा'-त्याग के द्वारा भोग करो, आसक्ति के द्वारा नहीं।''

उपर्युक्त विवेचन के आलोक में सिद्ध है कि असहमति के कुछेक स्थूल बिन्दुओं के आधार पर रबीन्द्र और गांधी के बीच छत्तीस का रिश्ता देखना बहुत बड़ी भ्रान्ति है— असहमति से अधिक सत्य है दोनों की समीपता, एक-दूसरे की पूरकता। इस तथ्य को कुबेरनाथ राय ने अपनी पुस्तक पत्र मणिपुतुल के नाम में बहुत ही सुविचारित एवं तर्कपूर्ण ढंग से रखा है जो गौरतलब है— ''गांधीजी और रबीन्द्रनाथ दोनों का मौलिक उद्देश्य था जीवन को बढ़ती हुई यान्त्रिक जटिलता और असहजता से मुक्त करके उसे पुनः सहज, सरल और निर्मल रूप में प्रतिष्ठित करना। आधुनिक शिक्षा-प्रणाली हमारे आन्तरिक जीवन को और अधिक विखंडित, असहज और जटिल करती है। यह हमें जीवन के परिवेश से बेगाना और 'कटा हुआ' बना डालती है। आधुनिक शब्दावली में इसे ही 'एलियेनेशन' कहते हैं। अंग्रेजी या अमेरिकन पैटर्न पर आधारित आधुनिक शिक्षा जो महानगरीय संस्कृति से जुड़ी है और महानगरों के विशाल मधु-छत्तों जैसे विद्यालयों में पलती है, इस आन्तरिक बिखराव और अलगाव को रोकने को कौन कहे, और अधिक बढ़ाती है। इसी से गांधीजी, रबीन्द्रनाथ दोनों ने विश्वविद्यालय मुक्त शिक्षा की कल्पना की थी। रबीन्द्रनाथ का श्रीनिकेतन और गांधीजी की बुनियादी तालीम तथा मातृभाषा पर जोर दोनों इस दिशा में समान चिन्तन के फल हैं। दोनों की शिक्षा सम्बन्धी परिकल्पना एक दूसरे से मेल खाती है। एक की शैली है 'अभिजात' और दूसरे की 'जनसामान्यगत'। परन्तु दोनों एक दूसरे में खप जाती हैं और दोनों को जोड देने पर भारत की पूरी आत्मा अभिव्यक्त होती है। अभिजात से मेरा तात्पर्य जन्म-समृद्ध या अर्थ-समृद्ध नहीं बल्कि संस्कार-समृद्ध से है। गांधीजी कहते हैं कि आधुनिकता मनुष्य को जटिल, कृत्रिम और नकली बनाती जा रही है, अतः मनुष्य के मनुष्यत्व की रक्षा के लिए बाहरी कृत्रिमता की जगह पर सादगी और सच्चाई को प्रतिष्ठित करो। रबीन्द्रनाथ कहते हैं आधुनिक यांत्रिक संस्कृति मनुष्य के अंतराल को जड़ीभूत करती

जा रही है। अत: आन्तरिक जड़िमा से मनुष्यत्व की रक्षा के लिए सहजता और भावुकता को धारण करो। तो पुतुल दोनों बातें एक दूसरे की पूरक है। यही कारण है कि गांधीजी और रबीन्द्रनाथ दोनों 'दो' होते हुए भी एक ही तरह का जीवन 'आश्रम जीवन' जिये और जीने का उपदेश दे गये।''

कुबेरनाथ राय ने अपने उपरोक्त विश्लेषण में रबीन्द्रनाथ और गांधीजी की एक-दूसरे की पूरकता या सहधर्मिता को समझने में जरा-सी भी चूक नहीं की है। वस्तुत: रबीन्द्र और गांधी-गुरुदेव एवं महात्मा-के अन्त: सम्बन्धों का फलक इतना विस्तृत है कि उसे लेकर एक पुस्तक लिखी जा सकती है, लेकिन एक लेख के कलेवर में उस विस्तृत फलक का अंश पाना सम्भव नहीं। फिर भी यहाँ प्रस्तुत तथ्यों के आलोक में साफ है कि रबीन्द्रनाथ और गांधीजी दोनों ही पश्चिमी ज्ञान-विज्ञान, साहित्य से बखूबी परिचित थे, फिर भी उनकी जीवन-दृष्टि भारतीय संस्कृति में अन्तर्निहित जीवन-बोध से ही निर्मित हुई थी इसलिए साहित्य तथा राजनीति जैसे पृथक क्षेत्रों में कार्य करते हुए भी दोनों सहधर्मी थे, पूरक थे और दोनों ने ही अपने-अपने ढंग से विश्व मंच पर भारत की आत्मा का प्रकाश विकीर्ण कर उपनिवेशवादियों द्वारा भारत को बर्बर, असभ्य सिद्ध करने के षड़यन्त्र का जबर्दस्त प्रत्याख्यान रच दिया। एक ने साहित्य के माध्यम से तो दूसरे ने सत्य-अंहिसा पर आधारित सत्याग्रह के प्रयोग से दुनिया को बतला दिया कि युद्ध, हिंसा के बदले प्रेम, अहिंसा, शान्ति के मार्ग पर ही चल कर मानवता का कल्याण हो सकता है। इस प्रकार एक ने 'गुरुदेव' तो दूसरे ने 'महात्मा' कहे जाने के सर्वथा योग्य अपने को सिद्ध किया।

सम्पर्क : 102, अम्बुज टॉवर, तिलकामाँझी
भागलपुर-812001
मो.: 9801055395

रबीन्द्रनाथ और गांधी

–मनोज कुमार

कविवर रबीन्द्रनाथ और गांधी के बीच विवाद व मतभेद की जब भी चर्चा होती है तो हम दूसरे को सही या गलत बनाने की कोशिश में अपने अनुसार तथ्य ढूँढ लेते हैं। यह सही है कि गांधी ने दक्षिण अफ्रीका से भारत आने के बाद लम्बे सयम तक भारतीय राजनीति को प्रभावित किया है। इस बीच कई स्तरों पर असहमतियाँ उनकी राष्ट्रीय नेताओं से बनी रही। इसकी शुरुआत 1909 में जब गांधी भारत नहीं आए थे तभी हिन्द स्वराज में अभिव्यक्त किए गए विचारों से ही होती है। भट्टाचार्य ने अपनी पुस्तक ''द महात्मा एंड दी पोयट लेटर एंड डिबेट्स ब्रिटवीन गांधी एंड टैगोर में लिखा है कि गांधी और सावरकर के बीच पहला वाद विवाद अक्टूबर, 1906 में तब हुआ जब हाजी मोजर अली लंदन में थे। लंदन के इण्डियन हाउस में दोनों की मुलाकात हुई थी। पुन: 26 अक्टूबर, 1909 को तजीमुद्दीन भारतीय रेस्टोरेट में गांधी एवं सावरकर के बीच रात्रि भोजन के समय औपनिवेशीकय भारत के अतीत एवं भविष्य को लेकर लम्बी चर्चा हुई। यह चर्चा मुख्य रूप में राष्ट्रवाद के साथ हिन्दुत्व को समाहित करने को लेकर थी। भट्टाचार्य आम्बेडकर के साथ की चर्चा और टैगोर की असहमति को भी महत्वपूर्ण मानते हैं। यों तीनों ही असहमतियाँ या विवाद एक तरह का नहीं हैं और न ही यह माना जा सकता है कि यह अन्तिम है या ये ही महत्त्वपूर्ण है। स्वतन्त्रता आन्दोलन का इतिहास इस बात का साक्षी है कि गांधी विवादों और अवरोधों से सदा जूझते रहे हैं।

गांधी के हृदय में कविवर के प्रति अपार श्रद्धा है। लेकिन गांधी को एक ही बात खली है कि कविगुरु ने फुर्सत के समय इधर-उधर की बातें सुनी और विश्वास कर लिया। गांधी लिखते हैं कि यह आलोचना अत्याधिक प्रेम रखने के कारण उन पर की गई एक मीठी चोट है (वा. खण्ड 28, पृ. 442)। उनकी आलोचना से गांधी नाराज नहीं हैं। गांधी ने साफ कहा कि इस तरह एक मतभेद को लेकर आदमी नाराज होने लगे तो जीवन कष्टकर भावनाओं का घर एवं भार रूप बन जाएगा। कोई दो व्यक्ति किसी एक मुद्दे पर सोलह आने एकमत नहीं होते। गांधी लिखते हैं कि उन्हें दो दूक आलोचनाएँ पढ़कर खुशी होती है

क्योंकि मतभेदों के कारण मित्रता गहरी हो जाती है। मित्र होने के लिए यह जरूरी नहीं है कि वे परस्पर सभी बातों में एकमत हों। लेकिन मतभेद में तीव्रता नहीं होनी चाहिए, कटुता तो बिल्कुल भी नहीं। गांधी स्वीकार करते हैं कि कवि गुरु की आलोचना में ऐसी कोई तीव्रता एवं कटुता नहीं है (वा. खण्ड 28, पृ. 442)। दरअसल अफवाह यह फैलाई गई थी कि आलोचना का मूल कारण ईर्ष्या है? गांधी इसे निराधार तथा दुर्बलता और असहिष्णुता का द्योतक कहते हैं। इसे हृदयहीन आरोप कहते हैं। कविगुरु का गांधी से ईर्ष्या करने का कोई कारण नहीं है। गांधी लिखते हैं कि कविगुरु का अंश भी उनमें नहीं है। वे तो कभी तुकबन्दी भी नहीं कर सके। उनके मन में उनकी महत्ता प्राप्त करने की कोई आकांक्षा नहीं है। वे अपने महत्ता के निर्विवाद अधिकारी हैं। संसार का कोई दूसरा कवि उनकी बराबरी नहीं कर सकता। गांधी कहते हैं कि उनकी इस निर्विवाद स्थिति का मेरे महात्मापन से कोई सम्बन्ध नहीं है। दोनों के कार्यक्षेत्र अलग-अलग हैं जो कहीं नहीं टकराते। उन्होंने स्पष्ट किया है कि कविगुरु अपनी कल्पना से भव्यलोक में, अपने विचारों की दुनिया में रहते हैं, जबकि मैं चरखे का गुलाम हूँ। कवि अपनी वंशी की तान पर अपनी गोपियों को नचाता है और मैं अपनी प्यारी सीता, चरखे के पीछे भटकता फिरता हूँ और उसे दैत्य दशानन से (जापान, मानचेस्टर, पेरिस इत्यादी से) मुक्ति दिलाने का कार्य करता हूँ। कवि सृष्टिकर्ता हैं, आविष्कार कर्ता हैं, जबकि वे तो शोधक हैं। कवि दुनिया को नई और मोहक चीजें दे सकता है जबकि वे तो सिर्फ पुरानी और जीर्ण शीर्ण वस्तुओं में संभावना ही दिखा सकते है। जादूगर आसानी से चमत्कार पैदा कर सकता हैं जबकि उन्हें संसार में छोटा सा कोना हासिल करने के लिए भी घोर परिश्रम करना पड़ रहा है। इसलिए गांधी की कवि से कोई स्पर्धा नहीं है। वे सम्पूर्ण नम्रता से स्वीकार करते है कि उनका कार्य एवं व्यापार एक-दूसरे का पूरक है। वे कवि गुरु की आलोचना को कवि सुलभ स्वच्छंदता का नमूना मानते हैं। उन्होंने साफ किया है कि चित्रकार एवं कवियों को सच्चा चित्र प्रस्तुत करने के लिए अतिरंजना से काम लेना पड़ता है। इसलिए कवि गुरु की बातों का शब्दशः अर्थ करना उनके प्रति अन्याय है। भट्टाचार्य कहते हैं कि दुनियों में हर किसी को सोचने की स्वतंत्रता एवं शक्ति प्राप्त है। सिर्फ ऐसा ही नहीं बल्कि हर कोई का अपना संसार एवं तरीका है। यह भी सही है कि भिन्नता हमेशा सहजता के साथ नहीं स्वीकारी जाती है। लोगों की सोच इस बात पर निर्भर करती है कि वे किस प्रकार से अपने आस-पास की चीजों के प्रति अहसास रखते हैं। यही भिन्नतापूर्ण सोच, वाद-विवाद का औपचारिक एवं गैर औपचारिक रूप ले लेती है। महात्मा गांधी भारतीय स्वतन्त्रता संग्राम के अंगुवा थे। इसका तात्पर्य यह था कि उनके नेतृत्व में पूरा भारत एकजुट होकर आजादी के लिए संघर्ष कर रहा था।

टैगोर बंगाली संस्कृति से सम्बन्ध रखते थे। भारत में आधुनिकता की शुरुआत बंगाल से ही मानी जाती है जो 1890 में प्रारम्भ हुई। आधुनिक व्यक्तिवादी स्वतन्त्रता का गहरा प्रभाव

टैगोर पर पड़ा। टैगोर यह मानने लगे थे कि मानवता अन्तिम रूप से व्यक्तिगत आजादी में सन्निहित है। इसमें किसी प्रकार से कमी नहीं आनी चाहिए। पर टैगोर पश्चिमी राष्ट्र-राज्य की अवधारणा से सहमत नहीं थे उनका मानना था कि पश्चिमी राष्ट्र-राज्य की सोच पूरी तरह अमानवीय एवं शोषणकारी नीति पर टिकी हुई है।

मार्च 1915 में टैगोर ने व्यक्तिगत एवं सामुदायिक स्वतन्त्रता के सम्बन्ध में तर्क प्रस्तुत किया था साथ ही आजादी की प्राप्ति में प्रयोग किए जाने वाले साधनों पर भी गांधी से उनका टकराव हुआ। टैगोर सामुदायिक स्वतन्त्रता को वैयक्तिक स्वतन्त्रता से ज्यादा तहजीह (महत्त्व) नहीं देते थे। उनका मानना था कि वैयक्तिक आजादी ही सचमुच जीवन की आजादी है। जिसे सामुदायिक अथवा राष्ट्रीय आजादी से खतरा है।

गांधी को न मौलिक दार्शनिक माना जाता है न ही अकादमिक दुनिया कोई सिद्धान्तकार के रूप में उन्हें स्थापित करती हैं। गांधी मानते थे कि भारत का कल्याण प्राचीन सनातनी व्यवस्था में ही निहित है। व्यक्ति से व्यक्ति का सम्बन्ध सिर्फ स्वतन्त्रता के नाम पर खत्म करना सामुदायिक सहकार की दृष्टि से खतरनाक होगा। गांधी एवं टैगोर के बीच सम्बन्ध 1915 से 1941 तक चला। 1941 में टैगोर की मृत्यु हो गई। गांधी मार्च 1915 में शान्तिनिकेतन आए एवं वहाँ टैगोर से मिले। मिलने से पहले ही वे एक-दूसरे को जान चुके थे। गांधी के बारे में टैगोर को जानकारी सी.एफ. एन्ड्रूज एवं डब्ल्यू-डब्ल्यू पियरसन के द्वारा प्राप्त हुई थी। एन्ड्रूज ने टैगोर को दक्षिण अफ्रीका से पत्र लिखकर गांधी के बारे में परिचय कराया था। ये लोग टैगोर के दोस्त एवं शान्तिनिकेतन में टैगोर के साथ कार्य करने वाले थे। जब गांधी दक्षिण अफ्रीका में थे तो वे कलकत्ता के टाऊन हॉल में एक बैठक में आए थे। (05 दिसम्बर, 1913) टैगोर ने उस बैठक को संचालित किया था। गांधी अपनी इसी बैठक के दौरान टैगोर के बड़े भाई ज्योतिन्द्रनाथ से मिले थे। 1901 में गांधी ने कलकत्ता के भारतीय राष्ट्रीय कांग्रेस के सम्मेलन में एक संकल्प पत्र सैकड़ों ब्रिटिश इण्डियन जो दक्षिण अफ्रीका में रह रहे थे, की ओर से रखा था। (भट्टाचार्या, 2008, पृ. 3) इस बैठक के बाद ज्योतिन्द्रनाथ ने गांधी के दक्षिण अफ्रीका में रहने वाले भारतीयों से सम्बन्धित इस पत्र का अनुवाद करके 'भारती' नामक पत्रिका में प्रकाशित किया था। इस प्रकार गांधी एवं टैगोर के बीच मित्रता का सम्बन्ध 26 वर्षों तक रहा। दोनों विभूतियों ने व्यक्तिगत राष्ट्रीय एवं अन्तरराष्ट्रीय स्तरों पर बेबाकी के साथ तर्कपूर्ण विचार रखे।

वे गांधी को महात्मा के नाम से सम्बोधित करते थे। फिर भी गांधी के विचारों से इत्तेफाक नहीं रखते थे। 1922 में टैगोर अपने मित्र द्विजेन्द्र नारायण बक्शी को गांधी के विरोध में पत्र लिखते हुए कहते हैं कि ''जब मैं विदेश से भारत आ रहा था तो मेरे मन में विचार आया कि मुझे महात्माजी के मार्गदर्शन में कार्य करना चाहिए। लेकिन भारत आने पर मैंने महसूस किया कि ऐसा करना अच्छा नहीं है। मुझे महात्माजी के विचारों पर संदेह

हो गया था।'' (22 मई, 1922—श्री बक्शी की पोती कुमारी नंदिता रॉय द्वारा संग्रहित)। गांधी एवं टैगोर का आपसी मतभेद पहली बार खुलकर असहयोग आन्दोलन के समय आया। इसे एक पृथक काल खण्ड (1915-1922) के रूप में देखा जा सकता है। गांधी ने अंग्रेजी सत्ता के खिलाफ असहयोग आन्दोलन चलाया। भारत का एक बड़ा जनमानस इस आन्दोलन का हिस्सा बना। इस आन्दोलन में सरकारी संस्थाएँ, न्यायालय, स्कूल सुरक्षा तन्त्र का बहिष्कार किया गया एवं विदेशी कपड़ों की होली जलाई गई। टैगोर इसका विरोध करते हैं। उनका विरोध मुख्यत: चार रूपों में था। पहला विरोध टैगोर का यह था कि गांधी का यह असहयोग आन्दोलन भारतीय राजनैतिक प्रक्रिया को पूरी तरह कुंद कर रहा था एवं नेताओं को स्वैच्छिक कार्यकर्ता में तब्दील कर रहा था। इससे भारतीय राजनैतिक प्रक्रिया की चेतना कमजोर हो रही थी। दूसरा विरोध का बिन्दु यह था कि इस आन्दोलन में विद्यालयों एवं कॉलेजों का भी बहिष्कार किया गया। इसकी कोई वैकल्पिक व्यवस्था नहीं की गई ताकि विद्यार्थियों का नुकसान न हो। इसमें टैगोर बड़े पैमाने पर भारतीय छात्रों का अहित देखते थे। टैगोर का विरोध गांधी के शिक्षा सम्बन्धित विचार को लेकर भी था। गांधी मानते थे कि पाश्चात्य शिक्षा गुलामी की शिक्षा है जबकि टैगोर पाश्चात्य शिक्षा की वैयक्तिक आजादी का मुख्य स्रोत मानते थे। उनका मानना था कि पाश्चात्य शिक्षा व्यवस्था के द्वारा ही व्यक्ति ब्रह्माण्ड व्यवस्था एवं समाज व्यवस्था को सही ढंग से जान सकता है।

गांधी-टैगोर का वैचारिक विवाद दूसरे स्तर का तब प्रारम्भ हुआ जब 10 मार्च 1922 को गांधी जेल में बन्द कर दिए गए एवं फरवरी 1924 में जेल से रिहा किए गए। गांधी के कारागार से रिहा होने पर टैगोर ने स्वागत करते हुए लिखा कि ''हम आनन्दित है'' (टैगोर, भट्टाचार्य, 2008, पृ. 95)। यह दूसरा वैचारिक विवाद 1925 में टैगोर द्वारा एक लेख बंगाली पत्रिका 'सबुज पत्र' में प्रकाशित होने के बाद गहराता है। बाद में इसे ''द कल्ट ऑफ द चक्रा'' के नाम से प्रकाशित कराया गया। उसके बाद गांधी ने जवाब देते हुए दो लेख यंग इंडिया में ''द पोयट एंड द व्हील'' (वा. खंड, 30, मार्च 1926) एवं ''द पोयट एंड द चरखा'' (खण्ड 28, नवम्बर, 1925) में प्रकाशित कराया। टैगोर स्वराज्य की अवधारणा से सहमत थे जो भारतीय आवाम के हित का मूल साधन है पर गांधी के स्वराज्य की अवधारणा संदेह मे डाल रही थी। टैगोर मानते हैं कि चरखा की अनिवार्यता भारतीय समाज की विविधतापूर्ण प्रकृति को नष्ट कर देगी। ईश्वर का नियम ब्रह्माण्ड को विविधतापूर्ण तरीके से विकसित करना है। इसलिए गांधी का निर्णय ईश्वरीय निर्णय के खिलाफ है। ''ईश्वर का उद्देश्य है कि, मानव समाज में भिन्नता वैसे ही कायम रहे जैसे एक ही माला में पृथक-पृथक लड़िया होती हैं। जबकि एक खास या साझे परिणाम की चाहत में आगे बढ़ना एक रूपता को हासिल करना है।'' (भट्टाचार्या—2008, पृ. 99)। टैगोर का यह भी तर्क था कि स्वराज्य की प्राप्ति के लिए भारतीय लोगों को बाहरी तौर पर चरखा

के द्वारा एक सूत्र में बाधना कारगर नहीं होगा। असली स्वराज्य का भाव आन्तरिक हृदय से पैदा होगा। यह सिर्फ पूर्ण मानसिक स्वतन्त्रता के द्वारा प्राप्त किया जा सकता है। जबकि गांधी को विश्वास था कि चरखा में श्रम की गरिमा का ध्यान रखा जाता है। चरखा के द्वारा ही भारत की आर्थिक समस्या का सही अर्थों में हल सम्भव है। यह भारत के पुर्ननिर्माण का साधन था। गांधी मानते हैं कि ''मनुष्य न केवल बौद्धिक न केवल निरा पशु और न ही पूरी तरह हृदय एवं आत्मा होता है। वह तो इन तीनों का समुच्चय होता है, एक पूर्ण मनुष्य के निर्माण के लिए इन तीनों की सन्तुलित समन्वयपूर्ण एकता आवश्यक है (गांधी वा. खंड, 6, पृ. 113)। गांधी का विश्वास था कि चरखा में ही इतना सामर्थ है कि वह सम्पूर्ण भारत को एक सूत्र में बाँध सकता है और इसके द्वारा ही भारतीय एकता एवं विविधता दोनों का विकास सम्भव है।

गांधी/टैगोर के वैचारिक विवाद का तीसरा चरण 1929-1933 के बीच चलता है। टैगोर चौदह महीने तक जापान, इण्डो-चीन, कनाडा, यू.एस.ए., यू.एस.एस.आर. एवं पश्चिमी यूरोप के देशों में भाषण देते हुए 18 जनवरी 1930 में साबरमती आश्रम पहुँचे। टैगोर शान्तिनिकेतन के लिए आर्थिक चन्दा एकत्रित कर रहे थे। गांधी से वहाँ उनकी मुलाकात हुई। गांधी ने अपने स्तर पर 60,000 रुपया चंदा एकत्रित करके शान्तिनिकेतन के लिए प्रदान किया। टैगोर ने गांधी को शान्तिनिकेतन का आजीवन सदस्य बनाया एवं निवेदन किया कि वे शान्तिनिकेतन की देख-रेख करते रहें। टैगोर एवं गांधी के बीच इस तीसरे दौर का मतभेद तब शुरु हुआ जब गोलमेज सम्मेलन में आम्बेडकर के कहने पर हरिजनों के लिए पृथक निर्वाचन प्रणाली की बात स्वीकार कर ली गई। गांधी उस समय यरवदा जेल में थे और उन्होंने आमरण अनशन शुरु कर दिया। इससे पहले एवं बाद में भी गांधी ने कई अवसरों पर आमरण अनशन किया था। टैगोर गांधी के इस तरीके को शारीरिक एवं नैतिक रूप से अच्छा मानते थे पर इसके विरोध में उनके कई तर्क थे। टैगोर का मानना था कि यह एक तरह का स्व को नीचा दिखाने वाला कृत्य है। इस कृत्य में आत्मविकास के बजाय आत्महास्य की ज्यादा संभावना है। सच तो यह भी है कि भूख हड़ताल की प्रक्रिया में अपराधी अथवा दोषी को किसी प्रकार का प्रतिरोध का सामना नहीं करना पड़ता है और खासकर प्रत्यक्ष रूप से गलत करने वाले पर तो इसका एकदम प्रभाव नहीं पड़ता है ताकि वे अपने अधिकार को त्याग दे और पीड़ित की मदद हो सके। वे कहते हैं कि मनोवैज्ञानिक तौर पर भी उपवास मानवीय उत्थान की दृष्टि से अच्छा नहीं है। इसमें जीवन और स्वास्थ्य को खतरे की सम्भावना है। विकल्पों के अभाव में इसका सहारा उचित है पर हर बार इसको परिवर्तन या विरोध का माध्यम बनाना उचित नहीं है।

गांधी एवं टैगोर के बीच चौथा एवं आखिरी वैचारिक विवाद 1934-1941 के बीच चला (1941 में टैगोर की मृत्यु हो गई) इस चौथे चरण के विवाद की शुरुआत गांधी

द्वारा 1934 में बिहार में आए भूकम्प पर प्रतिक्रिया देने के पश्चात हुई। गांधी ने अपने कथन में कहा कि 'अस्पृश्यता के खिलाफ किए गए पाप का यह ईश्वरी प्रायश्चित है।'' (भट्टाचार्या—2008, पृ. 158)। जबकि टैगोर मानते थे कि मनुष्य के किसी भी कार्य का नैतिक अथवा अनैतिक रूप से परमात्मा पर कोई प्रभाव नहीं पड़ता है। क्योंकि मनुष्य के कार्यों में इतना शक्ति और सामर्थ नहीं है कि वह सृष्टा के विधान को प्रभावित कर दे। टैगोर 1939 के सुभाष चंद्र बोस के प्रति अखिल भारतीय कांग्रेस के शीर्षक्रम के व्यक्तित्वों के द्वारा किए गए कार्यों का भी आलोचना करते हैं। जैसा कि स्पष्ट है कि उस मामले में गांधी अग्रणी स्थान रखते हैं। सुभाष चंद्र बोस को दबाव में अखिल भारतीय कांग्रेस के अध्यक्ष पद से इस्तीफा देना पड़ा था। प्रतिक्रिया स्वरूप कहा कि ''कांग्रेस की बैठक में कुछ कठोर हाथों ने बंगाल को तकलीफ पहुँचाई है जो अभद्र जिद् का प्रतिफल है कृपया अपने दयालु हाथों से जख्म पर शीघ्र मरहम लगाए।'' (भट्टाचार्य—2008, पृ. 168-169)।

रबीन्द्रनाथ टैगोर ने चरखा यज्ञ पर लिखा है कि आचार्य प्रफुल्ल चंद्र राय ने उन्हें अपनी आलोचना का लक्ष्य बनाया है। क्योंकि वे चरखा के मामले में उत्साह प्रगट नहीं कर सके हैं। दण्ड रूप में ब्रजेन्द्रनाथ जैसे प्रख्यात व्यक्ति मेरे साथ रखे गये हैं। वे लिखते हैं कि सहमत या असहमत होना मानवीय सत्य है। परमात्मा ने मानव मन का सृजन करते हुए मकड़ी मनोवृत्ति को अपने सामने नहीं रखा। जिसकी नियति एकरसता से जाला बुनते जाना है। मानव स्वभाव को जबरन एक साँचे में ढाला जाना अत्याचार है। दैवीय शक्ति विविध रूपा है। यही कारण है कि सृष्टि निर्माण में विविध तत्व कार्य करते हैं। विशृंखलता ही एक रूप होती है जो मृत्यु है। इसीलिए परमात्मा ने मनुष्य को बहुविधि शक्ति प्रदान की है इसलिए उसकी निर्मिती सभ्यताओं में विविधतापूर्ण होती है। विविधता एकता की माला में गुथी रहे इसलिए हम एकरूपता के विरुद्ध विद्रोह की भावना वहाँ देखते हैं, जहाँ मानवता ठिठुर नहीं चुकी है। उन्होंने लिखा है कि यदि किसी देश में इस प्रकार के विद्रोह के चिन्ह नहीं है या वहाँ के लोग शरीर दण्ड से आतंकित या किसी गुरु के आदेश की का स्वीकृति द्वारा आत्मतुष्ट होकर धूल-धूसरित होते देखते हैं तो ये समझना चाहिए कि ऐसे देश को ऐसी स्थिति के लिए शोक मनाना चाहिए। भारत में भी एकरूपता लाने हेतु चिन्तन प्रक्रिया दीर्घकाल से चली आ रही है। यहाँ प्रत्येक जाति और व्यक्ति के लिए करणीयकर्म निर्धारित कर दिए गए है। उसे सम्मोहित कर दिया गया है। वह दैवीय आदेश से बँधा है। इससे मुक्ति पाप-पुण्य है। चींटी-जीवन के अनुकरण से कर्तव्य पालन तो आसान है लेकिन मनुष्यत्व नहीं पाया जा सकता। दास वृत्ति में श्रम एक बोझ है। हाथ-पाँव के लिए कुशलता चाहिए। आयरलैण्ड के आदर्शवादी लेखक ए. ई. की पुस्तक 'दे नेशनल बीइंग' (राष्ट्र-अस्तित्व) का हवाला देते हुए लिखते हैं कि इस पुस्तक में काव्य और व्यावहारिक ज्ञान का समन्वय है। सहकार्य जीवन का वास्तविक चित्र इसमें प्रस्तुत किया गया है। उन्होंने यह भी पाया

कि मानव जीवन किस हद तक पूर्ण हो सकता है। जीवन के क्या विविध परिणाम निकल सकते हैं। 'पृथकता ही दासता है और एकता ही मुक्ति है।' उपनिषद भी कहता है कि 'ब्रह्म आत्मा है', परन्तु 'अन्न भी ब्रह्म है।' इस प्रकार अन्न भी अनन्त सत्य का प्रतीक है। सही मार्ग से हम महान सत्य का साक्षात्कार कर सकते हैं।

कवि गुरु यह भी लिखते हैं कि सिद्धान्त या पद्धति के किसी मामले में महात्मा गांधी से मतभेद रखना उन्हें अरुचिकर लगता है। (मॉडर्न रिव्यू, सितम्बर, 1925, वा. खण्ड 28, पृ. 502)। यों मतभेद उच्चतर दृष्टिकोण से गलत नहीं हैं। लेकिन ऐसा करने से उनका मन झिझकता है। इसका कारण यह है कि गांधी के प्रति उनके मन में अपार आदर और श्रद्धा है। इसलिये वे कहते हैं कि ऐसे व्यक्ति के प्रति उसके किसी भी क्षेत्र में सहयोग करने से बढ़कर और सुख क्या हो सकता है। महात्मा जी के महान नैतिक व्यक्तित्व से अद्‌भुत मेरे लिए और क्या हो सकता है? गांधी के व्यक्तित्व ने उन्हें शक्ति का प्रज्जवल तड़ित प्रकाश दिया है। उनकी प्रार्थना है कि यह शक्ति भारत को अभिभूत न कर के सहमति प्रदान करें। दोनों के प्रवृत्तियों में अन्तर का कारण राममोहन राय के प्रति गांधी द्वारा की गई टिप्पणी भी ही थी। गांधी ने राममोहन राय को समान व्यक्तित्व का माना है। जबकि रबीन्द्रनाथ, राय का आदर एक महान व्यक्तित्व के रूप में करते हैं। इसी कारण वे महात्मा जी के कार्य क्षेत्र को अपनी आत्मा की ही पुकार मानकर स्वीकार नहीं कर पाते। इसका उन्हें खेद है। लेकिन वे कहते हैं कि प्रभु की भी यही इच्छा है कि मनुष्य के प्रयास के पक्ष विविध हो क्योंकि उनकी मनोवृत्तियाँ पृथक-पृथक होती हैं यह मेरी व्यक्तिगत आदर की भावना में महात्मा गांधी के चरखा यज्ञ का अनुयायी बनने के लिए बल पूर्वक प्रेरित किया है। लेकिन विवेक और अन्तरात्मा ने उन्हें रोका है। रबीन्द्रनाथ ने महात्मा जी से यह अपेक्षा की है कि इसे वे अन्यथा नहीं समझेंगे। और उनके प्रति सहिष्णुता बनाए रखेंगे। जहाँ तक मेरे देशवासियों और जनता का प्रश्न है उन्हें अपने मन की सहज धारा में उनके प्रति की गई सेवाओं को और हानि को भी डूबो देने का अभ्यास है। अतएव आज वे क्षमा नहीं भी करते तो भी वो कल अवश्य ही भूला देगें। यदि ऐसा वहन भी करें और नाराजगी स्थाई भी रहे तो आचार शील मेरे अपराध में मेरे साथी है। वैसे ही मेरे पक्ष में ऐसे व्यक्ति मिल सकते हैं जिन्हें उनके देश ने ठुकरा दिया हो। लेकिन जिनके व्यक्तित्व का आत्मा से प्रकट होता हो कि लौकिक अरुचिजन्य किसी भी बदनामी की कालिमा कितनी अवास्तविक होती है। (मॉडर्न रिव्यू, सितम्बर, 1925, वा. खण्ड 28, पृ. 502 परिशिष्ट—5)।

कलकत्ता के कड़वे अनुभव जो नवजीवन में प्रकाशित हुआ में गांधी ने लिखा है कि पूर्व बंगाल में हजारों लोगों की भीड़ में वे परेशानी का अनुभव नहीं करते थे। लेकिन कलकत्ते में दिन भर जय घोष ने उन्हें थका दिया है। जब लोग प्रेमोन्मत होकर चिल्लाते रहते हैं तो वे किसी दूसरी बात को सुन नहीं सकते और न आँखों से देख सकते है। भीड़ को पार करने

में उनके पैर कुचल गए। उन्होंने लिखा कि शान्ति की सेना में तो अशान्ति की सेना से भी अधिक संयम और व्यवस्था की जरूरत होती है। उन्हें कलकत्ता में प्रेम का कड़वा और अनबन का भी अनुभव हुआ। वहाँ पक्ष द्वेष भी दिखे। अंग्रेजी अखबार असहयोग का विरोध करते थे। इसमें बेमतलब एवं वाहियात नुक्ताचीनी और उनके विषय में झूठी अफवाह लिखी जाती थी। रबीन्द्रनाथ टैगोर के लेखों और व्याख्यानों का भी जहरीला उपयोग किया जाता था। इसमें उन्होंने रावण राज्य की तसबीर देखी। उन्होंने लिखा कि जहाँ साधन की पसंदगी मनमाने ढंग से की जाती हो वहाँ छल कपट का उपयोग अचम्भे की बात नहीं है। यहाँ साधुता का दुरुपयोग हो रहा है। अंग्रेजी अखबार झूठ फैला रहे हैं। उन्होंने कहा कि उनका शस्त्र तो सत्य और शान्ति है। (नवजीवन, 18.09.1921, वा. खण्ड, 21, पृ. 144-45) गांधी लिखते हैं कि उनके विचारों को गलत रूप में प्रस्तुत किया जा रहा है। उनके भाषणों से वाक्यों को उनके सन्दर्भ से अलग करके ले लिया जाता है और तोड़मरोड़ कर प्रस्तुत किया जाता है। वे कवि गुरु के साथ बातचीत का हवाला देते हैं जिसे अखबार ने सर्वथा काल्पनिक और अनाधिकृत रूप से प्रकाशित किया है। उनकी बातचीत गोपनीय नहीं थी। यह प्रयत्न उन दोनों के बीच फूट डालने के लिए किया जा रहा है। उन्होंने असहयोगियों से अपील की कि कवि गुरु इतने महान है। कि उन पर उन पर बातों का असर नहीं हो सकता है। लेकिन यह साफ है कि हमारे बीच मतभेद है। लेकिन उसके कारण कवि गुरु के प्रति मेरे सम्मान भाव में कोई फर्क नहीं पड़ता। कवि गुरु को भारत से उतना ही प्रेम है जितना प्रेम का दावा मैं करता हूँ और वह प्रेम ही हमारे पास पारस्परिक सम्बन्ध के लिए हर दृष्टि से यथेष्ट है। गांधी से शरारत पूर्ण तरीके से कई सवाल पूछे गए उनमें एक सवाल यह भी था कि उनके अनुयायियों द्वारा गांधी महाराज की जय का नारा लगाया जाता है और वही लोग हिंसक गतिविधियों में शामिल होते हैं। गांधी ने स्पष्ट किया कि मुझे आशा है कि 'मेरे अनुयायी अहिंसा की भावना को हृदयगम कर रहे हैं। अगर वे अहिंसा की आड़ में हिंसा पर उतर आए तो उनके हिंसा का पहला शिकार मैं होऊँगा लेकिन देवदुयोग या कायरतावश वे जीवित रह गए तो उनके लिए हिमालय के हिमाच्छादित प्रान्तरों में ही स्थान होगा। कपड़ों की कमी, अन्तरराष्ट्रीय व्यापार विदेशी वस्तु दहन आदि सवाल के उत्तर में गांधी ने कहा कि विदेशी कपड़े के बहिष्कार का मतलब पूरे विदेशी व्यापार का बहिष्कार नहीं है। भारत को अपने विकास के लिए जिन चीजों की आवश्यकता है उसका आयात वह अवश्य करेगा और जिन चीजों की जरूरत नहीं हैं उनका निर्यात करेगा।' (वा. खण्ड 21, पृ. 72, 73) उन्होंने स्पष्ट हिदायत दी कि असहयोगी अपने कट्टर से कट्टर शत्रु को नहीं दुतकारे, यह हिंसा है। सुरेंद्रनाथ बनर्जी से मतभेद हैं लेकिन वे बंगाल के आदर्श हैं। उनकी सेवाओं को हमे नहीं भूलना चाहिए। उन्होंने हमारी भावनाओं को स्वर दिया था। हमसे मतभेद रखने वाला हर नेता देश का दुश्मन नहीं है। हमे अपना विरोध और असहमति शिष्टता के साथ

और आदर पूर्वक रखना चाहिए खासकर तब जबकि जिसका हम विरोध कर रहे हैं वह कोई जाना माना पुराना प्रतिष्ठित नेता हो (वा. खण्ड 21, पृ. 174)

शांति निकेतन के गायक ने 'मॉडर्न रिव्यू' में वर्तमान आन्दोलन पर ''सत्य की पुकार'' (कॉल ऑफ टुथ) शीर्षक से एक सुन्दर लेख लिखा था। गांधी लिखते हैं कि यह लेख शब्द-चित्रों की एक आकर्षक मालिका है। इस लेख में मानसिक दासता के खिलाफ अर्थात भय या आशा से किसी की सनक का आँख मूँदकर अनुकरण करने को जिस नाम से भी पुकारा जाए, उसके खिलाफ एक जोरदार आवाज उठाई गई थी। यह हमें सीख देता हैं कि हमें धीरज नहीं खोना चाहिए। जबरदस्ती किसी का किसी पर मत लादना नहीं चाहिए चाहे वह मत कितने ही बड़े आदमी का क्यों न हो कविवर कहते हैं कि जो चीज बुद्धि या हृदय को ठीक नहीं लगे, उसे तरन्त अस्वीकार कर देना चाहिए। अगर हम स्वराज्य पाना चाहते हैं तो हमें सत्य के उस रूप पर दृढ़ रहना चाहिए जिस रूप में हम उसे जानते हैं। (वा. खण्ड 21, पृ. 300)

गांधी ने लिखा कि 'जो सुधारक इस बात पर नाराज हो जाता है कि उसके सन्देश को लोग स्वीकार नहीं कर रहे हैं, उसे तो पहले जंगलों में जाकर जीवन-प्रवाह को तटस्थ बुद्धि से देखना, प्रतीक्षा करना और भगवान भजन करते हुए धीरज रखना चाहिए। (वा. खण्ड 21, पृ. 300) गांधी कविवर को देशभाइयों की तरफ से सत्य तथा विवेक के पक्ष में आवाज उठाने के लिए धन्यवाद देते हैं (वही) उनके अनुसार विवेक को दूसरे के हवाले कर देने से हमारी परवर्ती स्थिति पूर्ववर्ती स्थिति से भी बुरी हो जाती है। गांधी कहते हैं कि यह देखकर उन्हें बड़ा दु:ख होगा कि देश ने बिना सोचे-विचारे आँख मूँदकर मैंने जो कुछ कहा या किया, उसका अनुसरण करे।' (यंग इण्डिया, 13.10.1921, वा. खण्ड 21, पृ. 301) उनका मानना है कि प्रेम के आगे आँख मूँदकर आत्म-समर्पण कर देना अक्सर अत्याचारी के अत्याचार को लाचार होकर स्वीकार करने से भी अधिक अनिष्टकर सिद्ध होता है। क्योंकि अत्याचारी के अत्याचार से तो छुटकारा मिल जाता है लेकिन प्रेम के गुलाम से ऐसी आशा नहीं की जा सकती। प्रेम की उपयोगिता दुर्बलों में बल का संचार करने में है लेकिन अगर हम प्रेम के कारण किसी बात को मानने लगते हैं तो प्रेम अत्याचार हो जाता है (वा. खण्ड 21, पृ. 301)। मन्त्र का महत्त्व जाने बिना जप करना पुरुषोचित नहीं है। इसलिए गांधी बार-बार लोगों से अपनी विवेक बुद्धि से काम लेने के लिए प्रेरित करते हैं।

गांधी यज्ञ रूप में सभी से चरखा चलाने को कह रहे थे। उनका विश्वास था कि बहुत सोचने-विचारने और संकोच बिकोच के बाद सौभाग्य से यह देश चरखे को खुशहाली का स्त्रोत मानने लगा है। लेकिन उन्हें शिक्षित वर्ग के प्रति संदेह है। कविवर को कूड़ा कर्कट को देखकर अपनी धारणा नहीं बनानी चाहिए वे सचाई की तह में जाएँगे तो देखेंगे कि

चरखे को लोगों ने अन्ध आस्था के कारण नहीं स्वीकार किया है। बल्कि इसलिए स्वीकार किया है कि भारत के सात लाख गाँवों को पुंसत्वहीन बना दिया गया है। इनके रोजगार के साधन छीन लिए गए है। उनका विश्वास था कि भारत में आग लगी हुई है अभी हम सबको आग बुझाने में जुट जाना चाहिए भोजन के अभाव में लोग मर रहे है। खुलना के लोग काम कर सकते हैं, लेकिन उनके पास काम नहीं है, रायलसीमा में लगातार चौथी बार अकाल पड़ा, उड़ीसा की भी वही हालत है अभी हमारा एकमात्र काम भूखों के लिए दाने जुटाने की कोशिश करना है। उन्होंने कहा कि भारत अपने साढ़े सात लाख गाँवों में रहता है, नगर गाँवों के बूते ही पालते हैं। नगरवासी लोग यूरोप अमेरिका और जापान की बड़ी-बड़ी पेढियों के दलाल और कमिशन एजेंट है। पिछले दो सौ वर्षों से इन नगरों ने विदेशी पेडियों के साथ सहयोग कर देश का खून चूसा है। गांधी ने साफ कहा कि उनके पाँव में रक्त संचार बन्द हो गया है अगर अब भी इनका उपचार नहीं किया गया तो वह गिर कर दम तोड़ देगा। भूख से मरते बेकार लोगों का भगवान उसका रोटी है। ईश्वर ने काम करके भोजन जुटाने की प्रेरणा दी है। जो श्रम नहीं करते वे चोरी करते है। भूख के कारण भारत एक विशाल कारागार बन गया है। भूख के ही कारण हम चरखे की ओर जा रहे है। चरखे की पुकार सबसे उदात्त, सबसे मीठी है यह प्रेम की पुकार है और प्रेम ही स्वराज्य है। (वा. खण्ड 21, पृ. 302) करोड़ों लोग, पशु से बदतर, मरणासन्न लोगों के लिए चरखा जल की वह घूंट है जो दम तोड़ते इन भाई-बहनों में पुनः प्राण का संचार कर देगा। जो यह सोचते हैं कि भोजन के लिए काम करने की उन्हें जरूरत नहीं है उन्हें समझना होगा कि वे जो खा रहे हैं वह उनका नहीं है वे देशभाइयों को लूट कर खा रहे है। अगर हमारे करोड़ों देशभाईयों को अपने बेकार समय का उपयोग करना नहीं आता तो उनके लिए स्वराज्य का कोई मतलब नहीं है। स्वराज्य प्राप्त करने का एकमात्र उपाय चरखे की शरण में जाना है। (वा. खण्ड 21, पृ. 302) चरखा के द्वारा गांधी श्रम की गरिमा स्थापित करना चाहते थे। दरअसल ''भूख से मरते बेकार लोगों का परमेश्वर, योग्य काम और उससे मिलने वाली रोटी ही है। परमेश्वर सभी को अपना भोजन जुटाने का आदेश देते है। चरखा श्रम की गरिमा को स्थापित करने का साधन है।

गांधी आत्म-निर्णय का अधिकार और स्वतन्त्रता चाहते थे। उनके अनुसार आत्मा के विकास के लिए ही हमें अपनी बौद्धिक और अन्य सभी शक्तियों का विकास करना चाहिए। चरखे को खोकर हमने अपना बायाँ फेफड़ा ही खो दिया है। इसलिए हम क्षय रोग से पीड़ित हो गए है। चरखा के द्वारा इस भयंकर रोग की बढ़ती को रोका जा सकता है। चरखा एक ऐसी चीज है जिसे इस संक्रान्तिकाल में सभी को और बड़ी संख्या को सदा अपनाए रखना चाहिए। दरअसल विदेशी वस्त्रों के प्रति हमारे आकर्षण ने चरखे को अपने गौरवपूर्ण स्थान से च्युत किया है। गांधी अर्थशास्त्र और नीतिशास्त्र में कोई भेद

नहीं मानते थे। उनके अनुसार जो अर्थव्यवस्था व्यक्ति या राष्ट्र की नैतिकता को चोट पहुँचाती है, वह अनैतिक है, पापपूर्ण है। जो अर्थ-व्यवस्था दूसरे देश को लूटने की छूट देती है वह अनैतिक है श्रम का शोषण करके बनाई गई वस्तुओं का उपयोग करना पाप है। अमेरिका का गेहूँ खाकर पड़ोस के अन्य विक्रेता को ग्राहक के अभाव में भूखों मरने देना पाप है। उन्होंने कहा कि अगर हमने पड़ौस के सूत कातने वालों और बुनकरों द्वारा तैयार किया गया कपड़ा पहना होता तो मैं अपना बदन भी ढँकता और उन्हें भी अपनी रोटी-कपड़ा कमाने की सुविधा देता तब विदेश के फैशन के कपड़े खरीदना मेरे लिए पाप है। ऐसी स्थिति में मेरा कर्तव्य हो जाता है कि अपने आप को पवित्र करने के लिए विदेशी कपड़ों को आग में होम कर दूँ और पड़ोसी या खुद बनाकर खुरदरी खादी से ही सन्तोष करूँ।

कविवर से गांधी ने निवेदन किया कि मैं उन्हें वही कपड़े जलाने कहता हूँ जो सचमुच उन्हीं के हैं अगर वे उन कपड़ों को गरीबों और अंध-नंगे लोगों के मानते तब तो उन्होंने उन्हें गरीबों को सुपूर्द कर दिया होता। दरअसल विदेशी कपड़ों को जला कर मैं अपनी लज्जा को जलता हूँ। जिन्हें काम की जरूरत है उन्हें काम नहीं देकर कपड़ा देना उनका अपमान करना है गांधी कहते हैं कि मैं उनका कृपालु संरक्षण बनाने का पाप नहीं करूँगा। उन्हें गरीब बनाने में मेरा हाथ है अगर मुझे यह समझ आ जाए तो जूठन और शरीर के उतरे कपड़े नहीं बल्कि उन्हें उचित और गौरवपूर्ण स्थान दूँगा, उन्हे अच्छा दूँगा (वा. खण्ड 21, पृ. 303-04)

गांधी ने कहा कि उनका असहयोग न अंग्रेजों के खिलाफ है और न पश्चिमी दुनिया के खिलाफ बल्कि उनका असहयोग अंग्रेजों द्वारा स्थापित भौतिकवादी सभ्यता और उससे जुड़े लोभ, लालच और शोषण की प्रवृत्ति के खिलाफ है। वे लौटकर अपने घर आना चाहते हैं। वे अंग्रेज शासकों की शर्तों पर सहयोग करने से इंकार करते है। वे चाहते हैं कि अंग्रेज हमारा उनकी शर्तों पर सहयोग करें। यही कल्याणकारी मार्ग है। जो डूब रहा है वह दूसरों को बचा नहीं सकता इसलिए वे अपने पैरों को दृढ़ता से अपनी मिट्टी पर जमाए रखना चाहते है। दूसरों को बचाने के पहले हम अपने आप को बचाने का प्रयत्न कर रहे हैं। उनका असहयोग, अहिंसा व स्वदेशी का संदेश अखिल विश्व के लिए है, ऐसा गांधी ने कभी नहीं कहा। अगर यह सन्देश इस भूमि पर ही फलित नहीं हो सकता तो बेकार है। दरअसल दुनिया को देने के लिए भारत के पास-पतन, गरीबी व कष्ट के सिवा कुछ नहीं है। दुनिया अपने मत को अन्धभक्ति और पर मत को सन्देह की दृष्टि से देखती है क्योंकि हमारे पास जो प्राचीन शास्त्र है जिसके हम विरासतदार और रक्षक हैं। उसके अनुसार हम आचरण नहीं करते। गांधी मानते हैं कि भारतीय राष्ट्रवाद वर्जनशील और आक्रमण या ध्वंसात्मक नहीं है। यह धार्मिक व मानवतावादी है। मानवता के लिए मर मिटने के लिए हमें स्वयं जीना

सीखना होगा। अभी हमारा बलिदान लाचारी का माना जाएगा। जैसे- असहाय चूहा बिल्ली के दाँतों के बीच पड़ा हो।

कविवर को उन्होंने लिखा कि करोड़ों भूखे लोग भूख मिटाने वाली भोजन रूपी कविता की मांग कर रहे हैं। वे इसे सिर्फ अपने पसीना से प्राप्त कर सकते है। कविवर सुन्दर भविष्य की कल्पना कर रहे हैं। उनके आँखों के सामने एक सुन्दर चित्र है, ''उषा काल में पक्षी अपने बसेरे से निकलकर आकाश में ईश्वर का गुणगान करते हुए उड़े चले जा रहे है। वे भूल जाते है कि इन पंक्षियों को उस रात से पहले के दिन में पूरा आहार मिला था और जब ये प्रात:काल आकाश में उड़ चले तब इनके डैने काफी विश्राम पा चुके थे। और उनकी नसों में पिछली रात नए रक्त का संचार होता रहा था।'' वही भारतीय आकाश के नीचे रहने वाले मानव पंक्षी को नींद नहीं प्रात: काल वह ज्यादा कमजोर होकर उठता है। उन्होंने कहा कि यहाँ करोड़ो लोगों का जीवन सतत जागरण और चिन्ता का या सतत् संज्ञा शून्यता का जीवन है। यह वर्णनातीत है इसका अहसास तो तभी हो सकता है जब उसे भोग कर देखें। रुग्ण व्यक्ति की पीड़ा कबीर के भजन से दूर कर पाना असंभव है, उन्हें चरखा का संगीत ही भा सकता है। इसीलिए यह भारत का अनिवार्य अंग है। हम वर्तमान ठीक करें भविष्य तो ईश्वर के हाथ है। (वा. खण्ड 21)

गांधीजी ने रबीन्द्रनाथ के चरखा सम्बन्धी एवं अन्य असहमतियों का उत्तर तुरन्त नहीं दिया क्योंकि उनका यह मानना था कि अगर वे तुरन्त उत्तर देते तो कवि गुरु की आलोचना पढकर जो लोग उद्वेलित और प्रभावित थे वे उसे ठीक रूप से ग्रहण नहीं कर पाते। कुछ दिनों के बाद कवि गुरु की टीका और उनके उत्तर पर उद्वेग रहित राय दी जा सकेगी ऐसा उनका विश्वास था। गांधी ने कहा कि मेरी यह मान्यता भगवद्गीता पर आधारित है। यज्ञ रूप में किया गया कर्म शारीरिक श्रम है। श्लोक के रचयिता के मन में चरखा की कल्पना नहीं रही होगी। उन्होंने तो आचरण की बुनियादी सिद्धान्त प्रस्तुत किया है। भारत में कताई के काम को यज्ञ की गरिमा प्राप्त है। यह ईश्वर की बड़ी अराधना है। यह गरीबों के लिए किया गया काम है। चरखे का मतलब दुनिया की दौलत का न्यायोचित्त और समान बँटवारा है। (वा. खंड 21, पृ. 322)

गांधी ने यह भी कहा कि कविवर चरखे के बिल्कुल विरुद्ध नहीं है। वे सिर्फ यही कहना चाहते है कि सभी के लिए चरखा चलाना जरूरी नहीं है। लेकिन गांधी का विश्वास है कि जैसे-जैसे हम इस ओर आगे बढ़ेंगे वैसे-वैसे बढ़ती हुई गरीबी को दूर करने के साधन के रूप में चरखे की कार्य साधकता और महत्त्व के प्रति लोगों का संदेह दूर होगा। डॉ. प्रफुल्ल चंद्र राय, देशबन्धु दास और उनकी पत्नी ने विदेशी वस्त्रों का त्याग कर चरखे को अपना लिया है। सार्वजनिक शुद्ध यज्ञ खेती है। किसान अपनी मेहनत से उत्पन्न फसल का थोड़ा ही ग्रहण करता है वह लोक संग्रह के लिए मेहनत करता है। उसे सर्दी और गर्मी को बर्दाश्त

कर सकने वाले शरीर की जरूरत है। श्री राय जैसे वैज्ञानिक ने भी कहा है कि चरखा से व्यक्ति अपना भरण-पोषण ना कर सकें लेकिन वह प्रजा का ही भरण-पोषण कर सकता है। हिन्दूस्तान के नाम को चरखा ही बचा सकता है। ''ऐसे परवर्ती चक्र का जो अनुसरण नहीं करता वह व्यक्ति केवल अपने ही लिए इसलिए व्यर्थ जीता है। (भगवत-गीता, 3-16) कवि की रचना अनन्तकाल के लिए होती है उसे समय की परिधि में नहीं बाँधा जा सकता लेकिन आज उससे ऐसे ही अर्थ सिद्ध होते है। भगवतगीता में यह कहा गया है कि जो यज्ञ किए बिना भोजन करता है वह चोरी करता है। (भगवत-गीता, 3-14) यज्ञ से वर्षा होती है। गांधी इसका अर्थ करते है कि श्रम से पेड़ लगेगा और पेड़ से वर्षा होगी।

गांधी एवं टैगोर के वैचारिक विभेद विविध मुद्दों पर थे पर दोनों विभूतियों के बीच मित्रता का मिठास अद्‌भुत था। वे एक-दूसरे की अगाध इज्जत करते ही नहीं अपितु एक-दूसरे के प्रति उनके हृदय में अगाध स्नेह भी था। वे मानते थे कि राष्ट्र एवं मानवता के कल्याण के पथ पर उनके दृष्टिकोण एवं प्रयास भिन्न-भिन्न है फिर भी उनका एक ही पुनीत लक्ष्य है। वे लोग 26 वर्षों तक अपनी मित्रता के जीवन्त खुशबू के साथ सत्य एवं स्वतन्त्रता के संबन्ध में विमर्श करते रहे। यह इस प्रकार के दृष्टान्त की तरफ इशारा करता है कि गांधी के नेतृत्व में देश का स्वतन्त्रता आन्दोलन संचालित हो रहा था पर सभी को गांधी सप्रेम अपनी आलोचना करने की इजाजत देते थे। जो गांधी की महानता का सूचक है। साथ-साथ यह भी इंगित करता है कि गांधी प्रत्येक विरोध का वैचारिक जवाब बगैर किसी मनमलिनता के देते रहते थे।

भारतीय राष्ट्रवाद की प्रारम्भिक प्रवृति व रास्ते: टैगौर-गांधी

–मिथिलेश कुमार

भारतीय राष्ट्रवाद के विकास प्रक्रिया में यह महत्वपूर्ण है कि औपनिवेशिक शक्ति के सामाजिक, राजनीतिक, सांस्कृतिक तथा आर्थिक शोषण के विरुद्ध भारत में राष्ट्रवाद का प्रादुर्भाव हुआ और यही कारण रहा जिसने भारत में अपने आप को विकसित तथा मजबूत किया। विभिन्न इतिहास लेखन की प्रवृतियों और स्कूलों के आधार पर जब हम भारतीय राष्ट्रवाद को एकीकृत रूप में देखने का प्रयास करते हैं तो यह विभिन्न धाराओं के रूप में वर्गीकृत होता है। भारतीय राष्ट्रवाद के विभिन्न पक्षों की अवस्थिति की व्याख्या भी विभिन्न दृष्टिकोणों के आधार पर ही की जा सकती है जिसके विभिन्न वर्ग हो सकते हैं। उपरोक्त आधारों पर भारतीय राष्ट्रवाद के वर्गीकरण के फलस्वरूप यदि इसे एक आधार प्रदान करे तो इस पर यूरोपीय धारणाओं के प्रभावों के साथ-साथ भारतीय सांस्कृतिक और वैवधिकृत प्रवृत्तियों की भी श्रृंखला देखी जा सकती है। जिसका आधार 19वीं शताब्दी के तात्कालिक राजनैतिक और वैचारिक परिस्थितियों के अतिरिक्त 20वीं शताब्दी के निर्मित होते भारत का आधुनिक औपनिवेशिक राष्ट्रवाद भी निर्धारित होता है। भारतीय राष्ट्रवाद के निर्मिति को व्यवहारिक एवं तार्किक पक्षों पर अन्तरराष्ट्रीय मान्यता के लिए योगदान प्रदान करने में रबीन्द्रनाथ टैगोर एवं महात्मा गांधी का व्यापक दृष्टिकोण रहा। इन्होनें भारतीय राष्ट्रवाद के विभिन्न पहलूओं पर एक समायिक विचार रखा जिसे हम भारतीय राष्ट्रवाद के परिपेक्ष्य में समझ सकते है।

भारतीय राष्ट्रवाद की ऐतिहासिक यात्रा यूरोपीय राष्ट्रवाद की अपेक्षा संघर्ष की तीन बड़ी लहरों से होकर गुजरी है। इनमें से प्रत्येक लहर पहले की अपेक्षा अधिक प्रभावशाली और स्थाई चिन्हों से युक्त थी। प्रत्येक लहरों के बीच कोई न कोई आन्दोलन अपनी स्थाईत्वता के चिह्नों के साथ एक-दूसरे से जुड़े रहे और एक नए दौर की ओर भारत का सूत्रपात किया। भारतीय राष्ट्रवाद के प्रारम्भिक दौर ने केवल बड़े पूँजीपति वर्ग का प्रतिनिधित्व किया

जिसमें जमींदारों के प्रगतिशील तत्वय नए औद्योगिक पूँजीपति और खुशहाल व बुद्धिजीवी वर्ग शामिल थे। 1914 से पहले के वर्षों उस समय हलचल पैदा हुई जब देश में बड़े पैमाने पर असन्तोष की अभिव्यक्ति दर्ज हुई। इसमें शहरों में रहने वाले निम्न पूँजीपति वर्ग का असन्तोष जाहिर हुआ लेकिन इसका प्रभाव आम जनता तक नहीं पहुँच सका। 1914-18 के प्रथम विश्व युद्ध के बाद ही राष्ट्रीय आन्दोलन में किसानों और औद्योगिक मजदूरों से बनी देश की नई शक्ति अर्थात् आम जनता की क्या भूमिका स्पष्ट हुई। प्रथम विश्वयुद्ध के बाद जनसंघर्षों की दो बड़ी लहरें आई पहली लहर युद्ध के तत्काल बाद के वर्षों में बने कर प्रावधानों और दूसरी लहर विश्वव्यापी आर्थिक संकट के बाद जन्में स्थाईत्व के संघर्षों से पैदा हुई।

इस प्रकार भारत का राष्ट्रीय आन्दोलन यहाँ की सामाजिक परिस्थितियों से, साम्राज्यवाद की परिस्थितियों और उसकी शोषण प्रणाली से पैदा हुआ है। वह उन सामाजिक तथा आर्थिक शक्तियों से पैदा हुआ है जो इस शोषण के कारण भारतीय समाज में उत्पन्न हो गई हैं। ए. आर देसाई अपनी पुस्तक (भारतीय राष्ट्रवाद की सामाजिक पृष्ठभूमि, 1976) में भारतीय राष्ट्रवाद की प्रकृति की व्याख्या करते हुए कहते हैं कि संगठित आन्दोलन के रूप में भारतीय राष्ट्रवाद का उद्भव, उन्नीसवीं सदी के अंतिम दशकों में हुआ। लेकिन इसके प्रथम अंकुर 19वीं सदी के प्रारंभक में भी दृष्टिगोचर होते हैं। प्रबुद्ध हिन्दू बुद्धिजीवियों ने अँग्रेजों द्वारा लाई गई आधुनिक शिक्षा पाई थी और इस शिक्षा के माध्यम से इस वर्ग के लोग आधुनिक पाश्चात्य, प्रजातान्त्रिक विचारधाराओं के सम्पर्क में आए थे। इस वर्ग की उदीयमान राष्ट्रीय चेतना का 1828 में स्थापित ब्र९समाज के रूप में धार्मिक प्रस्फुटन हुआ। इसी काल में 1843 में स्थापित ब्रिटिश इंडिया सोसायटी और 1851 में स्थापित ब्रिटिश इंडिया एसोसिएशन जो उन दिनों के राजनीतिक दलों के एकीकरण से बना हुआ था, जैसे धर्मनिरपेक्ष राजनीतिक संगठनों का जन्म हुआ। शुरू के राजनीतिक दल भारतीय राजनीतिक राष्ट्रवाद के उद्भव के परिचायक हैं। लेकिन ये दल महज कुछेक व्यक्तियों से बने थे और इनका कोई सामूहिक आधार नहीं था।

भारतीय राष्ट्रवाद को इतिहासवेत्ताओं ने भारतीय व्याख्या में समझने के लिए इस बात पर जोर दिया कि भारत का एक आधुनिक राज्य के रूप में उभरना इसकी औपनिवेशिक आधुनिकता का परिणाम है। वे इस विचार का समर्थन करते हैं की एक आधुनिक, एकीकृत, प्रभुत्ववान, एकल, सत्ता के रूप में भारत की कल्पना उपनिवेश विरोधी संघर्ष के दौरान विकसित हुई। इस विचार से परे इतिहासवेत्ताओं की अपनी अलग विचारधारात्मक, सैद्धांतिक तथा बौद्धिक एकजुटता और सामाजिक प्रतिबद्धता ही है जिसने भारतीय राष्ट्रवाद के रूप को औपनिवेशिक, साम्राज्यवादी, कैंब्रिज स्कूल, राष्ट्रवादी स्कूल, मार्क्सवादी स्कूल उपाश्रित स्कूल के रूप में निर्मित की गई।

विभिन्न इतिहास लेखन की प्रवृतियों और स्कूलों के आधार पर जब हम भारतीय राष्ट्रवाद को एकीकृत रूप में देखने का प्रयास करते हैं तो यह विभिन्न धाराओं के रूप में वर्गीकृत होता है। भारतीय राष्ट्रवाद के विभिन्न पक्षों की अवस्थिति की व्याख्या भी विभिन्न दृष्टिकोणों के आधार पर ही की जा सकती है जिसके विभिन्न वर्ग हो सकते हैं। उपरोक्त आधारों पर भारतीय राष्ट्रवाद के वर्गीकरण के फलस्वरूप यदि इसे एक आधार प्रदान करे तो इसपर यूरोपीय धारणाओं के प्रभावों के साथ-साथ भारतीय सांस्कृतिक और वैवधिकृत प्रवृत्तियों की भी श्रृंखला देखी जा सकती है। जिसका आधार 19वीं शताब्दी के तात्कालिक राजनैतिक और वैचारिक परिस्थितयों के अतिरिक्त 20वीं शताब्दी के निर्मित होते भारत का आधुनिक औपनिवेशिक राष्ट्रवाद भी निर्धारित होता है।

भारतीय राष्ट्रवाद के निर्मिति को व्यवहारिक एवं तार्किक पक्षों पर अन्तरराष्ट्रीय मान्यता के लिए योगदान प्रदान करने में रबीन्द्रनाथ टैगोर एवं महात्मा गांधी का व्यापक दृष्टिकोण रहा। इन्होनें भारतीय राष्ट्रवाद के विभिन्न पहलूओं पर एक समायिक विचार रखा जिसे हम भारतीय राष्ट्रवाद के परिपेक्ष्य में समझ सकते है।

रबीन्द्रनाथ टैगोर

भारतीय स्वतंत्रता संग्राम के दौरान एकीकृत अथवा संगठित हो रही भारतीय जनता के विश्वास एवं मान्यताओं में अवरोध के रूप में राष्ट्रीय अस्मिता का प्रश्न खड़ा हो गया, अत: पश्चिमी विचारकों एवं अन्य साम्राज्यवादी लेखकों ने राष्ट्रवाद के सम्बन्ध में ऐसे लेख लिखे जो भारतीय राष्ट्रीयता पर प्रश्नचिन्ह खड़ा करने लगे, इसका परिणाम यह हुआ की भारतीय लेखकों एवं इतिहासकारों ने भी राष्ट्रवादी रवैया अपनाया तथा अपने-अपने हिसाब से भारतीय राष्ट्रवाद की व्याख्या करने लगे। अपनी लेखनी में किसी ने सांस्कृतिक राष्ट्रवादी स्वरूप की व्याख्या की तो किसी ने मानवतावादी, किसी ने भौतिकवादी दृष्टिकोण को अपनाया तो किसी ने मार्क्सवादी (साम्यवादी), जिनमें मुख्यत: महात्मा गांधी, एम.एन. रॉय, पार्थो चटर्जी, जवाहरलाल नेहरू तथा रबीन्द्रनाथ टैगोर प्रमुख हैं। राष्ट्रवादी लक्ष्य की प्राप्ति हेतु श्री टैगोर ने कहा है कि:-

'भारत ने सही अर्थों में राष्ट्रीयता हासिल नहीं की। मुझे बचपन से ही सिखाया गया कि राष्ट्र सर्वोच्च है, ईश्वर और मानवता से भी बढ़कर। आज मैं इस धारणा से मुक्त हो चुका हूँ और दृढ़ता से मानता हूँ कि मेरे देशवासी देश को मानवता से भी बड़ा बताने वाली शिक्षा का विरोध करके ही सही अर्थों में अपने देश को हासिल कर पाएँगे।'[1]

रबीन्द्रनाथ टैगोर भारतीय इतिहास में एक महान राष्ट्रवादी विचारक थे। इनका राष्ट्रवाद अन्तरराष्ट्रीय मानवतावादी दृष्टिकोण पर आधारित था। यह क्षेत्रवाद या राज्यवाद जैसी

[1] शंभूनाथ. सामाजिक क्रांति के दस्तावेज भाग-1.2006.पृ.169।

विचारधाराओं के समर्थक नहीं थे अपितु सम्पूर्ण मानवता की एकता एवं समन्वय पर जोर दिया करते थे। रबीन्द्रनाथ टैगोर का कहना था कि—

'अपनी समस्या का समाधान करते हुए हम पूरे विश्व की समस्या को हल कर सकते हैं। भारत जिस समस्या से वर्षों से जूझ रहा है, वही अब पूरी दुनिया के सामने है। वैज्ञानिक और तकनीकी आविष्कारों ने पूरे विश्व को एक कर दिया है। ऐसा समय आ गया है, जब हमें एकता का ऐसा आधार ढूँढना है, जो राजनीतिक न हो। अगर भारत विश्व की समस्या का समाधान दे पाया तो यह इंसानियत के प्रति उसका अप्रतिम योगदान होगा।' [2]

उनका मानना था की इतिहास केवल एक ही है और वह है मानव इतिहास, भिन्न-भिन्न राष्ट्रों के इतिहास तो इस मानव इतिहास के अंग मात्र हैं तथा यह मात्र सभ्यतागत अंग के रूप में कार्य करते हैं। मनुष्य में 'स्व' अर्थात् स्वयं के हित की भावना उसमें पाश्विक प्रवृत्ति को जन्म देती है, वह स्व हित को साधने के प्रयास में मानवीयता के उन मूल्यों को खो बैठता है जो मानव को मानव की श्रेणी के अन्तर्गत लता है। अत: सम्पूर्ण मानवता के हित एवं वैश्विक एकीकरण को लक्ष्य बनाना चाहिए।

टैगोर जी का मानना था की वर्तमान समय में जिसके पास प्रेम का नैतिक बल है, आध्यात्मिक एकता का सपना है, जिसके मन में दूसरों के लिए जरा सी भी रंजिश नहीं है और जिनमें अपने को दूसरों की परिस्थिति में रखकर देखने की सहानुभूतिपूर्ण अन्तर्दृष्टि है, वे ही आने वाले समय में अपनी स्थाई जगह के लिए सर्वाधिक योग्य हैं। अपने अन्तरराष्ट्रीय मानवतावादी राष्ट्रीय एकता के फलित होने की राह में श्री रबीन्द्रनाथ टैगोर ने कुछ बाधाओं का उल्लेख करते हुए कहा कि -

'भारत, जहाँ अपने व्यक्तित्व के स्वाभाविक सांस्कृतिक दृष्टिकोण के कारण लोगों के संगठन सामाजिक व नैतिक लक्ष्यों को लिए होते हैं, से भिन्न, यूरोप में, कहानी बिल्कुल अलग दिखती है। विज्ञान और तकनीक के क्षेत्र में त्वरित विकास के कारण हुए औद्योगिक विकास ने लोगों को आविष्कारों से अधिक से अधिक लाभ उठाने के लिए हाथ मिला लेने के लिए प्रेरित किया।'

लेकिन उन्होंने जोर दिया कि बिना नैतिक अथवा सामाजिक लक्ष्य के लोगों की ऐसी याँत्रिक सहयोगिता उनमें अमानवीय प्रवृत्तियों को जन्म देती है, जिसके परिणामस्वरूप उनका राष्ट्रवाद अपनी प्रकृति में धमकाने वाला तथा आक्रामक हो गया। इसके अतिरिक्त टैगोर ने कहा कि— 'यूरोप में राजनीतिक तथा आर्थिक उद्देश्य के लिए राष्ट्रवाद के विकास की प्रक्रिया में नैतिक रूप से अस्वीकार करने योग्य, राजनीतिक रूप से आक्रामक तथा आर्थिक रूप से राष्ट्रवाद के असन्तोषजनक रूप होने के गुण अन्तर्निहित हैं जो मानवता के व्यापक हितों के लिए हानिकारक हैं।'[3]

[2] वहीं.पृ.166।

[3] चतुर्वेदी, गीता। आधुनिक भारतीय राजनीतिक चिन्तन। 2012.पृ.85।

अत: भौतिकता, समाज में कुछ ऐसे तत्वों को पोषित करती है जो सामाजिक एवं सांस्कृतिक एकीकरण को बाध्य करती है। यह निजी स्वार्थों की पूर्ति हेतु व्यक्ति को प्रेरित करती है जिसके कारण सभ्यतागत तथा नैतिक समन्वय वास्तविक रूप से नहीं हो पाते।

एक सभ्य एवं आदर्श समाज की बात करते हुए रबीन्द्रनाथ टैगोर का कहना है कि— 'सामाजिक ढाँचे में आदर्श अपना जो रूप ग्रहण करते हैं, उसके दो उद्देश्य होते हैं। एक, हमारी इच्छाओं और महत्वकांक्षाओं को सामंजस्यपूर्ण विकास के लिए नियन्त्रण में रखना। दो, दूसरों के प्रति निष्काम प्रेम का संचार करना। इसलिए समाज मनुष्य की उन नैतिक और आध्यात्मिक आकांक्षाओं की अभिव्यक्ति है जिसका सम्बन्ध उसकी उच्चतर प्रकृति से है।'[4]

रबीन्द्रनाथ टैगोर ने भारत और अमेरिका में एक समानता को दर्शाया है और कहा है की इन दोनों राष्ट्रों में अलग-अलग जतियों को एक सूत्र में बाँधने की क्षमता है।

हमारे देश में विभिन्न जातियों के बीच समानता ढूँढने की कोशिश की गई है, ताकि उनकी एकता को वास्तविक तौर पर सही आधार प्रदान किया जा सके जो राष्ट्र एकता का राजनीतिक या व्यावसायिक आधार ढूँढना चाहेंगे, उन्हें निराश होना पड़ेगा। आध्यात्मिक चिंतन और मनीषी ही आध्यात्मिक एकता का महत्व समझकर उसका प्रचार करेंगे और मानवीय तथा सभ्यतागत एकता का सूत्रपात करेंगे।

उनका कहना था की हमारे आदर्श ही हमें मानवता की श्रेणी में लाते हैं, अत: अपने सभी गुण-दोषों को ध्यान में रखकर ही अपने आचरण में सुधार लाना आवश्यक है। केवल राजनीतिक स्वतन्त्रता ही समन्वय या राष्ट्रवाद का निर्माण नहीं करती, यह केवल अपने नैतिक तत्वों के विकास का अवसर उपलब्ध करती है। सामाजिक समन्वय तो नैतिकता एवं मानवतावादी दृष्टिकोण ही निर्मित कर सकता है। हमें अपने सामाजिक आबंधों से बाहर निकालना होगा समाज में अन्धविश्वास और आडम्बर नैतिक और सांस्कृतिक स्तर पर तो हानिकारक होते ही हैं साथ ही यह आपसी सामंजस्य एवं विश्व बन्धुत्व की भावना के लिए बाधा उत्पन्न करते हैं। पश्चिमी राष्ट्रवाद की बात करते समय हम यह भूल जाते हैं की हमारी एवं उनकी सांस्कृतिक संरचना में बहुत अन्तर है अत: हमें सर्वप्रथम अपने सामाजिक निर्माण को समझते हुए उसमें आवश्यक सुधार करना होगा उसके पश्चात अन्तरराष्ट्रीय जगत में हम अपने दृष्टिकोण को आजमा सकते हैं तथा हमारा लक्ष्य तो वैश्विक सुधार एवं समन्वय का ही रहेगा।

परंतु कुछ तत्व हैं जो हमें अपने सभ्यतागत संरचना में बदलना आवश्यक हैं जैसे— 'भारत आज भी अपने सामाजिक अंगों में उन मृत सामाजिक परम्पराओं का भार उठाए

[4] शंभूनाथ. सामाजिक क्रांति के दस्तावेज भाग-1. 2006.पृ.175।

चला आ रहा है जो युवा शक्ति के लिए घातक है। मृत सामाजिक परम्पराओं ने उसकी जीवन-शैली पर क्रमश: कुठाराघात किया है। यही कारण है की भारत का शिक्षित वर्ग अपनी सामाजिक जरूरतों के प्रति संवेदनशून्य हो गया है।'[5]

अत: यह वर्ग सामाजिक ढाँचे की जड़ता को ही उसकी पूर्णता समझता है।

रबीन्द्रनाथ टैगोर ने इसी आधार पर राष्ट्रवाद की आलोचना की है। उन्होंने राष्ट्र के विचार को जनता के स्वार्थ का ऐसा संगठित रूप माना है, जिसमें मानवीयता तथा आत्मत्व लेशमात्र भी नहीं रह पाता है। दुर्बल एवं असंगठित पड़ोसी राज्यों पर अधिकार प्राप्त करने का प्रयास यह राष्ट्रवाद का ही स्वाभाविक प्रतिफल है। इस से उपजा साम्राज्यवाद अन्तत: मानवता का संहारक बनता है। राष्ट्र की शक्ति में वृद्धि पर कोई नियन्त्रण सम्भव नहीं, इसके विस्तार की कोई सीमा नहीं। उसकी इस अनियन्त्रित शक्ति में ही मानवता के विनाश के बीज उपस्थित हैं। राष्ट्रों का पारस्परिक संघर्ष जब विश्वव्यापी युद्ध का रूप धारण कर लेता है, तब उसकी संहारकता के सामने सब कुछ नष्ट हो जाता है। यह निर्माण का मार्ग नहीं, बल्कि विनाश का मार्ग है। राष्ट्रवाद की धारणा किस तरह शक्ति के आधार पर विभिन्न मानवी समुदायों में वैमनस्य तथा स्वार्थ उत्पन्न करती है।

रबीन्द्रनाथ टैगोर का मानना है कि भारत में राष्ट्रवाद नहीं के बराबर है। वास्तव में भारत में यूरोप जैसा राष्ट्रवाद पनप ही नहीं सकता। क्योंकि सामाजिक कार्यों में रूढ़िवादिता का पालन करने वाले यदि राष्ट्रवाद की बात करें तो राष्ट्रवाद कहाँ से प्रसारित होगा? उस जमाने के कुछ राष्ट्रवादी विचारक स्विटजरलैंड 'जो बहुभाषी एवं बहुजातीय होते हुए भी राष्ट्र के रूप में स्थापित है' को भारत के लिए एक अनुकरणीय प्रतिरूप मानते थे। लेकिन रबीन्द्रनाथ टैगोर का यह विचार था कि स्विटजरलैंड तथा भारत में काफी फर्क एवं भिन्नताएँ हैं। वहाँ व्यक्तियों में जातीय भेदभाव नहीं है और वे आपसी मेलजोल रखते हैं तथा अन्तरविवाह करते हैं, क्योंकि वे अपने को एक ही रक्त के मानते हैं। लेकिन भारत में जन्माधिकार समान नहीं है। जातीय विभिन्नता तथा पारस्परिक भेद-भाव के कारण भारत में उस प्रकार की राजनीतिक एकता की स्थापना करना कठिन दिखाई देता है, जो किसी भी राष्ट्र के लिए बहुत आवश्यक है। टैगोर का मानना है की समाज द्वारा बहिष्कृत होने के भय से भारतीय डरपोक एवं कायर हो गए हैं। जहाँ पर खान-पान तक की स्वतंत्रता न हो, वहाँ राजनीतिक स्वतंत्रता का अर्थ कुछ व्यक्तियों का सब पर नियंत्रण ऐसा ही होकर रहेगा। इस से निरंकुश राज्य ही जन्म लेगा और राजनैतिक जीवन में विरोध अथवा मतभेद रखने वाले का जीवन कठिन हो जाएगा।

संकीर्ण राष्ट्रवाद के विरोध में वे आगे लिखते हैं कि राष्ट्रवाद जनित संकीर्णता यह मानव की प्राकृतिक स्वच्छंदता एवं आध्यात्मिक विकास के मार्ग में बाधा है। वे राष्ट्रवाद

[5] वहीं.पृ.178।

को युद्धोन्मादवर्धक एवं समाजविरोधी मानते हैं, क्योंकि राष्ट्रवाद के नाम पर राज्य शक्ति का अनियंत्रित प्रयोग अनेक अपराधों को जन्म देता है। व्यक्ति को राष्ट्र के प्रति समर्पित कर देना उन्हें कदापि स्वीकार नहीं था। राष्ट्र के नाम पर मानव संहार तथा मानवीय संगठनों का संचालन उन के लिए असहनीय था। उन के विचार में राष्ट्रवाद का सब से बड़ा खतरा यह है कि मानव की सहिष्णुता तथा उसमें स्थित नैतिकताजन्य परमार्थ की भावना राष्ट्र की स्वार्थपरायण नीति के चलते समाप्त हो जाएंगे। ऐसे अप्राकृतिक एवं अमानवीय विचार को राजनैतिक जीवन का आधार बनाने से सर्वनाश ही होगा। इसी लिए टैगोर ने राष्ट्र की धारणा को भारत के लिए ही नहीं, अपितु विश्वव्यापी स्तर पर अमान्य करने का आग्रह रखा था। वे भारत के राष्ट्रवादी आन्दोलन के राजनैतिक स्वतंत्रता सम्बन्धी पक्ष के भी आलोचक थे, क्योंकि उनका यह विश्वास था कि भारत इससे शक्ति प्राप्त नहीं कर सकता। वे मानते थे कि भारत को राष्ट्र की संकरी मान्यता को छोड़ अन्तरराष्ट्रीय दृष्टिकोण अपनाना चाहिए। आर्थिक रूप से भारत भले ही पिछड़ा हो, मानवीय मूल्यों में पिछड़ापन उसमें नहीं होना चाहिए। निर्धन भारत भी विश्व का मार्गदर्शन कर मानवीय एकता में आदर्श को प्राप्त कर सकता है। भारत का अतीत-इतिहास यह सिद्ध करता है कि भौतिक सम्पन्नता की चिंता न कर भारत ने अध्यात्मिक चेतना का सफलतापूर्वक प्रचार किया है।

उसके वैचारिक कौशल से यह बात उजागर नहीं हो पाती की यह मात्र एक सामाजिक जड़ता का भ्रम है, जो समयाँतर बदलाव के कारण फैला हुआ है तथा अब समय आ चुका है कि इसमें आवश्यक सुधार एवं बदलावों को लागू किया जाए। उपर्युक्त व्याख्याओं के आधार पर यह कहा जा सकता है कि रबीन्द्रनाथ टैगोर राष्ट्रवाद सम्बन्धी जिस दृष्टिकोण का समर्थन करते हैं वह अन्तरराष्ट्रीय मानवतावाद के आधार पर सामाजिक निर्माण की बात करता है, मानवीय मूल्यों को समर्थन प्रदान करते हुए भारतीय सभ्यतागत बदलावों को सार्थकता प्रदान करते हुए वैश्विक स्तर पर सम्पूर्ण मानवता के भलायी एवं सामाजिक तौर पर सम्पूर्ण मानवता के उद्धार की बात करते हैं।

गांधी का राष्ट्रवाद

गांधी, राष्ट्रवाद की परिधि को व्यापकता के संदर्भ में देखते हैं। उनका राष्ट्रवाद संक्रीण एवं उग्र राष्ट्रवाद न होकर सहिष्णु राष्ट्रवाद है। गांधी अपने राष्ट्रवाद को 'अन्तरराष्ट्रीयवादक्र के रूप में प्रस्तुत करते है। अन्तरराष्ट्रीयवाद की वैचारिकी के संदर्भों की व्याख्या में गांधी धर्म, राजनीति और स्वराज की अवधारणाओं के सहारे राष्ट्रवाद की अवस्थिति स्पष्ट करते हैं। राष्ट्र की भावना के पक्ष में गांधी जी का मत है कि मानव को अपने राज्य 'राष्ट्र' से आगे जाकर सम्पूर्ण मानवजाति से प्रेमयुक्त सहबद्धता होनी चाहिए। आत्मबलिदान और नैतिक स्वराज की पक्षधरिता को मानते हुए समाज के सदस्यों को वैश्विक सहकारिता पर

बल देना चाहिए। इस सम्बन्ध में गांधी जी कहते हैं कि -

'राष्ट्रवादी हुए बिना कोई अन्तरराष्ट्रीयतावादी नहीं हो सकता। अन्तरराष्ट्रीयतावाद तभी संभव है जब राष्ट्रवाद सिद्ध हो चुके यानि जब विभिन्न देशों के निवासी अपना संघटन कर लें और हिल मिल कर एकता पूर्वक काम करने का सामर्थ्य प्राप्त कर लें। राष्ट्रवाद में कोई बुराई नहीं हैय बुराई तो उस संकुचचितता, स्वार्थवृत्ति और बहिस्कारवृत्ति में है जो मौजूदा राष्ट्रों के मन में जहर कि तरह मिली हुई है। हर एक राष्ट्र दूसरे की हानि करके अपना लाभ करना चाहता है और उसके नाश पर अपना निर्माण करना चाहता है। भारतीय राष्ट्रवाद ने एक नया रास्ता लिया है। वह अपना संघटन या अपने लिए आत्मप्रकाशन का पूरा अवकाश विशाल मानवजाति के लाभ के लिए, उसकी सेवा के लिए ही चाहता है।'[6]

राष्ट्रवादी की सकारात्मकता के संदर्भ में गांधी मानते हैं कि - 'राष्ट्रवाद बुराई नहींय यह तो संकीर्णता, स्वार्थ तथा पृथकवादिता का आधुनिक राष्ट्रों का विषय है जो बुराई हैं।क्र गांधी राष्ट्र की अवधारणा में मनुष्य के नैतिक पक्ष को सबलता का प्रतीक मानते हैं। धर्म तथा राजनीति के परिपेक्ष्य को साथ रखते हुए गांधी के राष्ट्रवाद में 'स्वराज' और 'स्वदेशी' जैसे राष्ट्रीय पक्ष है जिनके आधार पर वो राज्य 'राष्ट्र' की एकात्मकता में 'रामराज्य' का युटोपिया निर्मित करते हैं। अपने रामराज्य की संकल्पना में राष्ट्र को धर्म की आस्था के साथ सत्य, अहिंसा, ईमानदारी, नैतिकता, परोपकार, सादगी इत्यादि मानवीय मूल्यों का राजनीति में समवेत कर राजनीति के आध्यात्मीकरण को जोड़ने की कोशिश करते हैं। उनका चिन्तन धर्म के प्रति रूढ़िवादी न होकर धर्म के निहितार्थ को नैतिक मूल्यों पर बल देना रहा है।

सिद्धान्तों के आधार पर गांधी जी के स्वराज का विश्लेषण करें तो स्वराज को लेकर उनकी सोच अत्यंत स्पष्ट थी। वे स्वराज को सर्वोपरि मानते थे। उनका स्वराज भाषा, साहित्य, संस्कृति एवं समाज सबके लिए था। वे भाषा, संस्कृति के संरक्षण पर बल देते थे और इसी कारण उनका हिंदी प्रेम उन्हें घोर राष्ट्रवादी बनाता है। उनके अनुसार राष्ट्रवाद राष्ट्र के समस्त गुण एवं अवगुणों को स्वीकारते हुए राष्ट्रीय प्रेम की वह भावना है जो स्वयं की सांस्कृतिक,धार्मिक एवं नैतिक मान्यताओं के प्रति आस्था व देश प्रेम की भावना को उद्दीपित करती है। भारतीय मानताओं एवं प्राचीन सामाजिक संकल्पनाओं को स्वीकारते हुए उनके दोषों को दूर करना एवं एकता के साथ समस्त भारतीय संस्कृतियों का मेल ही भारत में राष्ट्रवाद की भावना को दर्शाता है। अत: गांधी जी का मानना था कि जिस प्रकार देश प्रेम का धर्म हमें यह सिखाता है कि व्यक्ति को परिवार के लिए, परिवार को ग्राम के लिए, ग्राम को जनपद के लिए और जनपद को राज्य के लिए मरना सीखना चाहिए, उसी प्रकार से किसी देश को स्वतंत्र इसलिए होना चाहिए ताकि वह विश्व

[6] महात्मा गांधी, मेरे सपनों का भारतं नवजीवन ट्रस्टं

के कल्याण के लिए अपना बलिदान दे सके। इससे गांधी जी के अन्तरराष्ट्रीयतावादी दृष्टिकोण का भली-भाँति पता चलता है तथा गांधी जी के स्वराज्य सम्बन्धी विचारों में भी यह तथ्य परिलिक्षित होता है

'मैं भारत का उत्थान इसलिए चाहता हूँ कि सारी दुनिया उससे लाभ उठा सके। मैं यह नहीं चाहता की भारत का उत्थान दूसरे देशों के नाश की नींव पर हो।'[7]

यहाँ पर गांधी जी उग्र-राष्ट्रवाद को बिल्कुल नकार देते हैं। वह स्वयं के राष्ट्र का उत्थान तो चाहते हैं परंतु किसी अन्य राष्ट्र के विनाश की कीमत पर नहीं।

गांधी जी का यह राष्ट्रीयता का विचार केवल सैद्धान्तिक नहीं वरन उनके व्यावहारिक मन्तव्य को दर्शाता है, उनकी विचारधारा पर रास्किन, टॉल्स्टॉय एवं थोरो जैसे विचारकों का प्रभाव था। जिन्होंने सामाजिक दर्शन को उत्कृष्ट स्तर तक पहुँचाया। उनका मानना था कि हमारे देश की सांस्कृतिक संरचना ही कुछ इस प्रकार से है की हमारा राष्ट्रवाद किसी अन्य राष्ट्रीयता के हित को नुकसान नहीं पहुँचा सकता, जिस प्रकार से हम अपने राष्ट्र के स्वराज्य की रक्षा करेंगे ठीक उसी प्रकार किसी अन्य राष्ट्र की आवश्यकता पड़ने पर सहायता भी करेंगे।

'सार्वजनिक जीवन के लगभग 50 वर्ष के अनुभव के बाद आज मैं यह कह सकता हूँ कि अपने देश को सेवा देना किसी दुनिया की सेवा से असंगत नहीं है - इस सिद्धांत में मेंरा विश्वास बढ़ा ही है। यह एक उत्तम सिद्धान्त है। इस सिद्धान्त को स्वीकार करके ही दुनिया की मौजूदा कठिनाइयाँ आसान की जा सकती हैं और विभिन्न राष्ट्रों में जो पारस्परिक द्वेष-भाव नजर आता है, उसे रोका जा सकता है।'[8]

अत: राष्ट्रीय चेतना एवं राष्ट्रीयता की भावना को जागृत करने हेतु गांधी जी ने विभिन्न सामाजिक आन्दोलनों को चलाया जो की स्वराज्य प्राप्ति में सहायक थे। राष्ट्रीयता की भावना के बिना स्वराज्य की प्राप्ति असंभव थी अत: गांधी ने आपने विभिन्न आश्रमों एवं सामाजिक जीवन में परिवर्तनकारी अपने महत्वपूर्ण सिद्धान्तों को सम्पूर्ण भारतवर्ष में चलाया ताकि व्यक्ति को एवं समाज को समझे और स्वराज्य के लक्ष्य को सामूहिक रूप से प्राप्त किया जा सके। उपर्युक्त विश्लेषण जो गांधी के राष्ट्रवाद पर प्रस्तुत किया गया उससे यह प्रतीत होता है कि गांधी का राष्ट्रवाद व्यावहारिक जगत में प्रभावकारी एवं एक उत्कृष्ट आदर्श के रूप में स्थापित हुआ तथा भारतीय सभ्यता एवं संस्कृति के लिए जो वैचारिकी की पृष्टभूमि गांधी की संकल्पना ने प्रस्तुत की वह अन्य किसी ने नहीं की, राष्ट्रीयवाद अथवा अन्तरराष्ट्रीयतावाद का जो दर्शन गांधी ने प्रस्तुत की वह उनकी पुस्तक 'मेरे सपनों का भारत' में स्पष्ट रूप से परिलिक्षित होती है।

---

[7] महात्मा गांधी,मेरे सपनों का भारत. नवजीवन टंस्ट.

[8] वहीं.पृ.16

इस प्रकार हम कह सकते हैं कि राष्ट्रवाद एक प्रकार की भावना है जो अपने राष्ट्र के प्रति व्यक्ति की निष्ठा को प्रदर्शित करती है। यह राष्ट्र के साथ एक मनोवैज्ञानिक बन्धन को सृजित करता है। भारत एक सांस्कृतिक, धार्मिक व भाषायी विविधता वाला देश है, यहाँ अनेक प्रकार की संस्कृतियाँ व जीवनशैली देखने को मिलती है। राष्ट्रवाद ही एक ऐसा धागा है जो विविध सांस्कृतिक-जातीय पृष्ठभूमि से सम्बन्धित होने के बावजूद लोगों को एकता के सूत्र में पिरोता है। यह एक जटिल और बहुआयामी संकल्पना है जो राष्ट्र से एक साझी पहचान विनिर्दिष्ट करती है।

सन्दर्भः

चन्द्र, बिपिन. भारतीय राष्ट्रवाद. दिल्लीः जवाहर पब्लिशर्स एंड डिस्ट्री., 1996.

डह्.बी.आर.पुरोहित। राजनीतिशास्त्र के मूल सिद्धांत। जयपुरः राजस्थान हिंदी ग्रंथ अकादमी, 2013।

पाठक, डॉ. कृष्णा कांत। समाज एवं राजनीति दर्शन। जयपुरः राजस्थान हिंदी ग्रन्थ अकादमी, 2012।

प्रधान, रामचंद्र। राज से स्वराज्य तक। दिल्लीः हि.मा.का.नि., 2015।

बाजपेयी, अरूणोदय। समकालीन विश्व एंव भारत प्रमुख मुद्दे और चुनौतियां। दिल्लीः पियर्सन, 2012।

बिपिन चंद्, मृदुला मुखर्जी, आदित्य मुखर्जी। आजादी के बाद का भारत। नई दिल्लीः हि. मा.का.नि. दिल्ली विश्वविद्यालय, 2009।

बिस्वाल, तपन. तुलनात्मक राजनीति संस्थाएं और प्रक्रियाएं। नई दिल्लीः ओरिएंट ब्लैकस्वान, 2016।

विल किमलिका। समकालीन राजनीति-दर्शन। दिल्लीः डॉलिंग किंडरस्ले 'ई' प्रा.लि., 2013.

सिंह, वैभव. इतिहास और राष्ट्रवाद। हरियाणाः आधार प्रकाशन, 2012।

हॉब्सबॉम, एरिक जे. इतिहास, राजनीति और संस्कृति। दिल्लीः नयी किताब, 2015-

Aloysius, G. Nationalism Without A Nation In India. Delhi : Oxford, 2017.

Anderson, Banedict. Imagined Communities. Jaipur: Rawat Publication, 2015.

Bhattacharjee, Rabindranath Tagore (Intro- Nirmal Kanti. Nationalism. Delhi : Niyogi Books, 2012.

Desai, A. R. Social Backgraund of Indian Nationalism. New Delhi : Sage Texts. Popular Prakashan, 2016.

Deutsch, Thomos Panthan Kenneth. Political Thought in Modern India. Delhi : Sage, 1986.

Gandhe, Rajmohan. Understandig the Founding Fathers. Delhi : ALEPH, 2016.

Gellner, Ernest. Nations And Nationalism. New York : Cornell University, 2006 (II).

Pandey, Bidut Chakraborty Rajendra Kumar. Modern India Political Thought. Delhi : Sage, 2014.

Suresh Sharma, Tridip Sahrud. M. K. Gandhi's Hind Swaraj a Critical edition. New Delhi : Orient Black Swan, 2010 .

Thopar, Romila. The Public Intellectual In India. Delhi : Aleph, 2015.

Vajpeyi, Ananya. Righteous Republic The Political Foudations of Modern India. England : HarvUrd University Press, 2012.

सम्पर्कः महात्मा गांधी अन्तरराष्ट्रीय हिन्दी विश्वविद्यालय, वर्धा

गांधी-टैगोर और चरखा

–संजय कृष्ण

सन् 1915 से लेकर 1947 तक के कालखण्ड को गांधीयुग के नाम से जाना जाता है। तीन दशकों का यह कालखंड भारतीय राजनीति का महत्वपूर्ण और स्वतन्त्रता आन्दोलन की दृष्टि से अत्यन्त निर्णायक रहा है। इन्हीं तीन दशकों में गांधी से महात्मा तक के सफर का अपना देश साक्षी रहा है। बिहार के चम्पारण लेकर देश की आजादी और बँटवारे का दुख, दर्द, दंश और इन्हीं अन्तिम समय में देश के कुछ हिस्सों में दंगे से लहूलुहान इंसानियत और टूटते भरोसे का भी यह समय रहा। इन्हीं कालखंडों में गांधी कभी थकते नजर आते हैं तो किसी को चूकते नजर आते हैं। किसी को लगता कि गांधी तो अब देश की राजनीति के लिए अप्रासंगिक हो चुके हैं। अब देश को उनकी जरूरत नहीं। उन्हें अब स्थायी तौर पर आश्रम में चले जाना चाहिए। भला, बिना बम के दर्शन के क्रूर अंग्रेज देश को यूं ही आजाद कर जाएँगे? इस तरह के कई मौजूँ सवाल उस दौर की फिजाओं में तैर रहे थे। अंग्रेजों को भी नहीं लगता था कि जिस लुटियन में वे एक नए शहर की नींव रख रहे हैं, उसे दो दशक बाद ही छोड़कर चले जाएँगे। यह भरोसा होता तो वे भला नए शहर की कल्पना ही क्यों करते?

इसी दौर में, यानी 1925 के आस-पास भारतीय राजनीति में गांधी के भी अप्रासंगिक होने का यह स्वर कुछ तेज सुनाई देने लगा था। लेकिन इन स्वरों और कोलाहलों से परे गांधी अपनी धुन में काम कर रहे थे। उन्हें इन कोलाहलों से जैसे कोई सरोकार न हो और वे अपने रचनात्मक कार्यों को लेकर उतने ही उत्साहित थे। देश की आजादी से इतर वे गाँव की आजादी के पक्षपाती रहे। देह की भौतिक आजादी से अलग वे मन की आजादी के लिए फिक्रमन्द दिखे। उनका मानना था कि मन की आजादी, देह की आजादी से जरूरी है। इसलिए, हम सिर्फ गांधी का एक राजनीतिक इकाई के तौर पर मूल्यांकन नहीं कर सकते। उनके लिए आजादी से कम महत्वपूर्ण नहीं था छुआछूत, स्वच्छता, जाति-भेद, चरखा। इस व्यापक अर्थ में हम देख सकते हैं कि वे केवल राजनीतिक व्यक्ति नहीं थे, जैसा कि हम देखते हैं कि उस समय के सभी नेताओं का दायरा सिर्फ राजनीति तक ही सीमित था।

जो नेता इस दायरे को तोड़ पाए, वह भी गांधीजी के कारण ही संभव हुआ। इसलिए, इस व्यापक अर्थ और परिप्रेक्ष्य में देखें तो महात्मा का मकसद सिर्फ देश की अंग्रेजों की गुलामी से मुक्ति भर नहीं था। वे गाँव को सशक्त, स्वच्छ और संपन्न बनाने की दिशा में भी उतनी ही तन्मयता से लगे हुए थे। राजनीतिक सत्ता पाना उनके जीवन का लक्ष्य नहीं, व्यक्ति के जीवन में परिवर्तन उनकी मंजिल थी। व्यक्ति, गाँव, समाज को वे आत्मनिर्भर बनाना चाहते थे। इसके लिए उनके पास कुछ बुनियादी चीजें थीं, जिसके अमल के वे हिमायती थे। कुछ को लगता, गांधीजी यह क्या कर रहे हैं। यह काम तो आजादी के बाद भी हो सकता है, लेकिन उनके लिए आजादी से कम जरूरी ये चीजें कतई नहीं थीं। चरखा उनमें से एक था। चरखे से वे आजादी की बात करते थे। लोग सोचते, भला चरखा से आजादी का क्या संबन्ध? इस चरखे को लेकर कविगुरु रबीन्द्रनाथ टैगोर (1861-1941) की सोच कुछ दूसरी थी। जिस मानसिक धरातल पर गांधी (1869-1948) चरखे को लेकर सोच रखते थे, कविगुरु उसके सिर्फ भौतिक स्वरूप को ही समझ पा रहे थे। चरखे को लेकर कवि और महात्मा के बीच खूब वैचारिक बहसें हुईं, लेकिन दोनों के बीच आत्मीय सम्बन्ध की उष्मा कभी कम नहीं हुई। भारतीय राजनीति का भी यह एक विरल अध्याय है। गुरु और गांधी वैचारिक मतभेदों के बावजूद दोनों में आन्तरिक रूप से कोई कटुता नहीं थी। दोनों वैश्विक व्यक्तित्व थे। दोनों की शिक्षा-दीक्षा यूरोप में हुई, लेकिन गांधी ने अपने ऊपर यूरोप की शिक्षा को कभी हावी होने नहीं दिया और राजनीति में वे पूरी सादगी और संत जैसा जीवन व्यतीत करते रहे। टैगोर ने भी शान्ति निकेतन के जरिए एक नई शिक्षा पद्धति और संस्कार की नींव रखी लेकिन दोनों में काफी वैचारिक मतभेद भी थे। कभी-कभी कटु भी हो जाते थे, लेकिन मित्रता अटूट ही रही। दोनों के मध्य जो सबसे तीखी बहस हुई, वह चरखे को लेकर है। यह 1925 की बात है। दोनों के बीच चरखे को लेकर क्या चल रहा था, वह उनके लेखों और पत्रों से जाहिर होता है।

बीआर नन्दा ने गांधी की 'एक जीवनी' में उस चरखे को लेकर विस्तार से बात की है। बात ही नहीं की है, चरखे की जरूरत क्यों थी, इस देश में, उसका तर्क भी दिया है। नन्दा लिखते हैं, ''उन दिनों गांधीजी के बारे में प्राय: हर अंग्रेज यही कहता सुना जाता था कि गांधी थक गया है, खत्म हो गया है, और भारतीय नेता ऐसा मानने लगे थे कि साबरमती के संत ने राजनीति से संन्यास ले लिया है। उस समय भी राजनीति में— प्रान्तीय और केन्द्रीय कौंसिलों की कार्यवाहियों और समाचार पत्रों के साम्प्रदायिक विवादों में अवश्य गांधीजी की कोई दिलचस्पी नहीं थी। राजनैतिक स्वतन्त्रता को वह देश के आर्थिक और सामाजिक पुनरुत्थान की अनुवर्ती मानते थे और उनका कहना था कि स्वयं जनता के अपने प्रयत्नों से ही यह पुनरुत्थान होगा। इस सम्बन्ध में उन्होंने लिखा था— 'राजनैतिक आजादी का मतलब ही है जन चेतना में वृद्धि; और जनता की चेतना में वृद्धि तभी संभव है जब राष्ट्रीय

जीवन के सभी क्षेत्रों में काम हो।'' गांधीजी के लिए आजादी का मतलब सिर्फ चेतना में वृद्धि भी था। और इसके लिए जरूरी था स्वावलम्बन। आत्मनिर्भरता। और चरखा ही वह माध्यम था, जिसके सहारे हर भारतीय आत्मनिर्भर बन सकता था। राजनैतिक आजादी और चेतना में वृद्धि को लेकर दोनों के सोच में अन्तर था। गांधीजी की कई बातों पर टैगोर की घोर असहमति रही। सत्याग्रह को लेकर दोनों में मतभेद रहे। टैगोर सत्याग्रह को माध्यम बनाने के दृष्टिकोण से घृणा करते थे। उन्हें लगता था कि राजनयिक लोग गांधी के 'सत्याग्रह' को राजनीति के दाँव-पेंच के रूप में इस्तेमाल कर रहे। सत्याग्रह के अलावा टैगोर को इस बात का भी दुख था कि गांधी शिक्षण संस्थाओं के बहिष्कार की बात कर रहे थे। कई और सवाल भी थे, जिन पर दोनों के बीच गहरे मतभेद रहे। यही बात चरखे को लेकर भी थी।

गांधीजी ने चरखा के बारे में टैगोर के दृष्टिकोण को अस्वीकार कर दिया था और खादी के बारे में अपने सिद्धान्त का स्पष्टीकरण करते हुए लिखा— 'विदेशी वस्त्रों के प्रति हमारे प्रेम के कारण ही चरखा अपने गरिमामय स्थान से बहिष्कृत हुआ है। इसीलिए विदेशी वस्त्रों को पहनना मैं पाप समझता हूँ। मेरा मानना है कि मैं अर्थशास्त्र और नीतिशास्त्र के बीच में कोई गहरा अन्तर नहीं कर पाता।' इस गहरे अन्तर न कर पाने की स्थिति में ही गांधीजी के लिए चरखा महत्वपूर्ण था। यह मन-तन की गुलामी से भी मुक्ति का मार्ग प्रशस्त करता था। पर, इस चरखे की शुरुआत तब हुई जब रवींद्रनाथ टैगोर ने माडर्न रिव्यू, 1925 के सितम्बर अंक में 'चरखा यज्ञ' लिखा था। हालाँकि यह लेख पहले पहल बांग्ला की साहित्यिक पत्रिका 'सबुज पत्र' में 'चरखा' नाम से प्रकाशित हुआ, जिसका अंग्रेजी अनुवाद माडर्न रिव्यू में छपा। हिन्दी के प्रसिद्ध कवि निराला (1896-1961) ने उसी समय कवि के लेख की पृष्ठभूमि बताई है, हालाँकि टैगोर ने भी अपने लेख के आरम्भ में यह बात बताई है। निराला लिखते हैं, 'चरखा' शीर्षक कविवर रबीन्द्रनाथ का इक्कीस पृष्ठों का प्रबन्ध पहले-पहल बंगला के मासिक 'सबुज पत्र' में पढ़ने को मिला था, उसके भादो के अंक में। बन्द हो जाने के बाद इसी अंक से पत्र को पुनर्जन्म प्राप्त करने का सौभाग्य मिला है। इस लेख के लिखने का कारण और कुछ नहीं, आचार्य प्रफुल्ल चंद्र राय ने कहीं छापे की स्याही द्वारा कविवर पर चरखे के प्रचार से उदासीन रहने के कारण अपवाद और लांछन लगाने की चेष्टा की थी, यह लेख आचार्य राय की उसी क्रिया की प्रतिक्रिया है— ठेठ भाषा में यह चपत का जवाब घंसा है।' टैगोर का यह प्रबन्ध लम्बा है। उसी अंक में स्वराज्य के लिए संघर्ष लेख भी टैगोर का प्रकाशित हुआ, जिसमें चरखा व स्वराज्य को लेकर कवि ने कुछ और प्रश्न उठाए थे। गुरुदेव ने आयरलैंड का एक उदाहरण दिया। लिखा— ''आयरलैंड के आर्थिक पुनर्निर्माण के सर होरेस प्लनकैट द्वारा सहकारिता के सिद्धान्तों को लागू करने के प्रयास में उन्हें जो निराशा, विफलता और बार-बार प्रारम्भ करने की जिन समस्याओं का

सामना करना पड़ा, वे अब इतिहास का विषय हैं।'' चरखे के बहाने धर्म और जाति पर भी गुरुदेव ने अपने विचार प्रकट किए। गुरुदेव की कई चिन्ताएँ थीं। गांधीजी को प्रत्युत्तर तो देना ही था ताकि चरखे को लेकर कोई भ्रम की स्थिति न रहे।

पर, कवि को जवाब देने में महात्मा ने कोई हड़बड़ी नहीं दिखाई। गांधीजी ने नवम्बर में 'यंग इंडिया' में ''कवि और चरखा'' शीर्षक से लेख लिखकर इसका जवाब दिया। जवाब में किसी प्रकार की कटुता नहीं थी। गांधीजी ने माना— 'अत्यधिक प्रेम रखने के कारण मुझ पर की गई एक मीठी चोट है।' कवि के प्रश्नों का यह सिलसिलेवार जवाब नहीं था, बल्कि जो महत्वपूर्ण प्रश्न कवि ने उठाए थे, उनका उत्तर उन्होंने दिया। गांधीजी कहते हैं, ''यहाँ मेरा इरादा कवि की तमाम दलीलों का तफसीलवार खण्डन करने का नहीं है। जहाँ हमारे मतभेद बुनियादी हैं और ऐसे मतभेदों को बताने की मैंने कोशिश की है। वहाँ कवि की दलील में ऐसी कोई बात नहीं है जिसको स्वीकार करते हुए भी मैं चरखे के विषय में अपनी स्थिति कायम न रख सकूँ। चरखे के सम्बन्ध में उन्होंने जिन बातों का मजाक उड़ाया है, उनमें से बहुत-सी तो ऐसी हैं, जो मैंने कभी कही ही नहीं है। मैंने चरखे में जिन गुणों के होने का दावा किया है, वे कवि के प्रहारों से उन गुणों की सच्चाई पर कोई आँच नहीं आई है।... सिर्फ एक बात से, मेरे दिल को चोट पहुँची है। कविगुरु ने फुरसत के समय इधर-उधर की बातचीतों में सुना और विश्वास कर लिया है कि मैं राममोहन राय को बहुत ''मामूली आदमी'' समझता हूँ। मैंने उस महान सुधारक को कभी ''मामूली आदमी'' नहीं कहा, उन्हें मामूली मानने की बात तो दूर, जिस प्रकार कविगुरु की दृष्टि में वे बहुत बड़े आदमी हैं, उसी प्रकार मेरी दृष्टि में भी हैं।'' नवम्बर के बाद मार्च के अंक में गांधीजी ने 'कविवर और चरखे' शीर्षक से पुन: 'यंग इंडिया' में लिखा। यह लेख अपेक्षाकृत छोटा था।

कविगुरु को लगता था, भला चरखे से स्वराज का क्या संबन्ध? वह लिखते हैं— ''बहुत से लोग हैं तो दृढ़तापूर्वक कहते हैं और कुछ लोग हैं जो विश्वास करते हैं कि चरखा से स्वराज मिल सकता है, लेकिन मुझे अभी तक एक भी व्यक्ति ऐसा नहीं मिला जिसकी इस प्रक्रिया के बारे में स्पष्ट धारणा हो। इसीलिए कोई विचार-विमर्श नहीं, बल्कि इस प्रश्न पर केवल झगड़ा है। यदि मैं कहूँ कि बन्दूकों और तोपों से लैस विदेशियों को अपने देसी तीर-कमानों से नहीं मार गिराया जा सकता, तो मैं मानता हूँ कि ऐसे लोग अभी हैं तो मेरी बात का खंडन करेंगे और पूछेंगे ''क्यों नहीं''?

गांधीजी चरखे को इतना महत्व क्यों देते थे, आजादी से इसका क्या संबन्ध है, नन्दा प्रकाश इस पर प्रकाश डालते हैं— 'चरखे से गांधीजी के इतने अधिक लगाव को न तो अंग्रेज ठीक से समझ पाते थे और न शहरों में रहने वाले आधुनिक शिक्षा-प्राप्त भारतीय ही।' नन्दा कहते हैं 'गांधी के चरखा प्रेम को समझने के लिए भारतीय ग्रामीणों की भयंकर

गरीबी का सही ज्ञान होना नितान्त आवश्यक था। अंग्रेजों की इस ओर न रुचि थी न इच्छा, और पाश्चात्य शिक्षा-प्राप्त भारतीय नागरिकों का गाँवों के संबन्ध में घोर अज्ञान स्थिति को ठीक से समझने में बाधक था।' पर, गांधीजी के लिए चरखा ''आधुनिक यन्त्रवाद, औद्योगिकरण और भौतिकवाद के विरोध का मूर्तरूप था। वे जानते थे कि गाँव के सबसे गरीब लोगों को चरखा ही जोड़ सकता है। चरखा ही उन्हें आर्थिक गुलामी से मुक्त कर सकता है।''

पर, गुरुदेव को लगता था कि चरखा या सूत कातना अपनी ऊर्जा को निर्जीव करना है। वह लिखते हैं, ''कुछ लोग कहेंगे सूत कातना भी सृजनात्मक क्रिया है। लेकिन ऐसी बात नहीं है— चरखा घुमाने से मनुष्य चरखे का ही अंग बन जाता है। अर्थात वही करता है, जो मशीन से भी किया जा सकता है। वह अपनी जीवन्त ऊर्जा को पहिया घुमाने में निर्जीव कर देता है। मशीन के पास मन नहीं है इसीलिए एकाकी है वह। बाहर उसका कुछ नहीं है। इसी तरह सूत कातता मनुष्य अकेला है, उसके चरखे का सूत किसी और के साथ उसका योग नहीं कराता, उसके लिए यह जानना भी जरूरी नहीं उसका कोई पड़ोसी भी है रेशम के कीड़े की तरह अपने चारों ओर धागा बुनता है। वह मशीन बन जाता है— एकाकी और संगी-साथी विहिन।''

चरखा और सूत कातने को लेकर गुरुदेव की यही सोच थी। जिस तल पर गांधीजी चरखे को लेकर सोचते थे, गुरुदेव ठीक उसके उलट। गांधीजी यह नहीं चाहते थे कि लोग दिन रात चरखा ही चलाएँ और, चरखा चलाने वाला एकाकी कैसे हो सकता है। वैसे भी, बहुत से ऐसे काम हैं, जो एकाकी ही किए जाते हैं। कविता, कहानी, चित्र बनाना आदि। एकाकी और शान्त वातावरण सृजन के लिए अनुकूल होता है। गांधीजी का मानना था कि ''चरखे का उद्देश्य हिन्दुस्तान के करोड़ों लोगों के हितों में जो बुनियादी और जीवन्त ऐक्य है, उसे मूर्त करना है। प्रकृति के भव्य और क्षण-क्षण बदलते हुए रूप के भीतर भी हेतु योजना और आकृति की एकता दिखाई देती है, जो उतनी ही स्पष्ट है जितना कि उसका वैविध्यमय बाह्य रूप। महात्मा ने पूरे तर्क के साथ कवि को जवाब दिया था, लेकिन कहीं कोई तल्खी नहीं थी। गांधीजी की तार्किकता में एक ग्रामीण सरलता भी दिखती है। इसे देखना हो तो दक्षिण अफ्रिका में उनके आन्दोलन या भारत में चम्पारण आन्दोलन में देखा जा सकता है।

दक्षिण अफ्रीका से लौटने के बाद एक साल देश भ्रमण ने उनकी आँखें खोल दी और फिर उस समय एक अलग ढंग से आन्दोलन का स्वरूप और कार्यक्रम निर्धारित किए, जिन पर उन्हें बहुत भरोसा था। उन आन्दोलनों का एक उपादान यह चरखा भी था। तब, वाकई कवि की तरह बहुत से लोग यही सोच रहे थे आखिर आजादी का इस चरखे से क्या सम्बन्ध? पर, गांधी ने गाँव की गरीबी देखी थी। चम्पारण आन्दोलन में झुलसाती गर्मी पर

नंगे पैर चलना, गाँव-गाँव घूमना और किसानों से बातचीत करना उन्हें बहुत कुछ सबक दे गया। वे समझ गए थे कि सिर्फ राजनीतिक आजादी से काम नहीं चलेगा, इसके साथ कई रचनात्मक काम भी करने होंगे। इसलिए, अपनी मृत्यु से एक दिन पहले जो वसीयत छोड़ी, जिस पर प्राय: चर्चा नहीं होती, उसमें उन्होंने एक बेहतर भारत की कल्पना की थी और उसके निर्माण के रास्ते भी बताए थे। उसी में एक था गाँव। गांधीजी ने पूरी साफगोई से लिखा है— ''मेरी दृढ़ मान्यता है कि अगर भारत को सच्ची आजादी प्राप्त करनी है और भारत के जरिए संसार को भी, तो आगे या पीछे हमें यह समझना होगा कि लोगों को गांवों में रहना है, शहरों में नहीं। झोपड़ियों में रहना है महलों में नहीं। करोड़ों लोग महलों या शहरों में कभी एक-दूसरे के साथ शान्तिपूर्वक नहीं रह सकते। उस परिस्थिति में उनके पास सिवा इसके कोई चारा नहीं होगा कि वे हिंसा और असत्य, दोनों का सहारा लें।'' और इसे प्राप्त करने के तरीके भी बताए— ''सत्य और अहिंसा को हम ग्रामीण जीवन की सादगी में ही प्राप्त कर सकते हैं।''

गांधीजी गाँव पर जोर देते रहे। उन्हें पता था कि भारत गाँवों का देश है। भारत के सात लाख गाँव बचेंगे तो ही देश बचेगा। इसे अंग्रेज भी बहुत अच्छी तरह समझते थे। इसलिए, उन्होंने गाँव की अर्थव्यवस्था और उसकी स्वायत्ता पर हमला बोला। ग्रामीण कारीगरी, कुटीर उद्योग, सूत कताई को तहस-नहस किया। एआर देसाई ने लिखा है— 'आर्थिक रूप से गाँव आत्मनिर्भर थे। स्थानीय श्रम एवं साधने प्रसूत स्थानीय उत्पादन का स्थानीय उपभोग होता था। गाँव और बाहर की दुनिया के बीच विनियम सम्बन्ध लगभग शून्य थे। अक्सर सप्ताह में किसी एक दिन किसी बड़े गाँव के बाजार में कई केन्द्रों से आए तरह के सामानों की बिक्री होती थी। उन दिनों जो थोड़ा-सा व्यापार होता था, वह इसी रूप में संभव था।' प्राक् ब्रिटिश भारत का यही ग्रामीण अर्थतन्त्र था। धीरे-धीरे स्थितियाँ बदलने लगीं। औद्योगिकरण ने एक नई संस्कृति को जन्म दिया। गाँव से पलायन शुरू हुआ। गाँव के कुटीर उद्योग बन्द होने लगे। किसान मजदूर बनने लगे। किसानी पर लगान का चाबुक चलने लगा। एक तरह से ग्रामीण अर्थव्यवस्था छिन्न-भिन्न होने लगी और शहरों में चाल और खोली बनने लगे। यह आजाद भारत में भी जारी है। आजादी के बाद गांधीजी गाँव को संपन्न करना चाहते थे, लेकिन हमारा पूरा जोर 70 सालों में शहरीकरण का रहा। इस शहरीकरण और विकास की आँधी में गाँव छूटते गए, जल, जंगल, जमीन के आधिपत्य का चरित्र बदलने लगा और इसका नतीजा अब देश की जनता भुगत रही है। विकास के नाम पर जंगलों की अन्धाधुन्ध कटाई से लगातार प्रदूषण बढ़ रहा है और तरह-तरह की बीमारियाँ पैदा हो रही हैं। जल के बाजारीकरण ने हमारे भूमिगत जल को भी प्रदूषित कर दिया है। नदियाँ पहले से ही कराह रही हैं। मनुष्य की आकांक्षाए आसमान छू रही हैं। प्राकृतिक संसाधनों का तेजी

से क्षरण हो रहा है। सौ साल में ये प्रकृति प्रदत्त खनिज सम्पदा भी खत्म हो जाएगे, तब उस समय की दुनिया कैसी होगी, सिर्फ कल्पना कर सकते हैं।

गांधीजी ने इसीलिए मशीनीकरण का विरोध किया था। इसका इस्तेमाल विवेक के साथ होना चाहिए, अन्धों की तरह नहीं। हम इसी तरह इसका इस्तेमाल कर रहे हैं और दूसरी ओर जलवायु पर चिन्ता व्यक्त कर रहे हैं। जिसके कारण हम इस पृथ्वी के विनाश की पटकथा लिख रहे हैं, उसे जानते हुए भी उस ओर से आँख मूँदकर कृत्रिम बहसों में उलझ और दुनिया को उलझा रहे हैं। नीति निर्माताओं में सत्य से साक्षात्कार का साहस नहीं। इसलिए, वे तरह-तरह की बहसों को इजाद कर रहे हैं। जल पर संकट, जंगल पर संकट, जीव-जन्तुओं पर संकट, नदियों पर संकट-और ये सब मिलकर मनुष्य को भी संकट में डाल दिए हैं। क्योंकि सभी एक दूसरे से जुड़े हुए हैं। गांधीजी सौ साल पहले यह सब कह गए। चरखा की तरफदारी उन्होंने इसीलिए की थी कि हम धरती को बचा सकें। हम आज भी उनकी बातों को अनसुना किए हुए हैं। वे तो उसी समय कह गए थे— ''भारत की जरूरत यह नहीं है कि चन्द लोगों के हाथों में बहुत सारी पूँजी इकट्ठी हो जाए। बल्कि पूँजी का ऐसा वितरण होना चाहिए कि वह इस 1900 मील लम्बे और 1500 मील चौड़े विशाल देश को बनाने वाले साढ़े सात लाख गाँवों को आसानी से उपलब्ध हो सके।'' हमारी आधुनिकता हमारी जमीन से पैदा नहीं हुई थी, नकल से हुई थी। हमने पश्चिम की नकल की और नकल में हमने उसकी अच्छाइयों को कम, बुराइयों को भी अपनाया। हम नदी की पूजा करते हैं और उसी में समस्त गंदगी उड़ेल देते हैं, वृक्ष की पूजा करते हैं, लेकिन उसे काटने में तनिक भी देर नहीं करते। आज हम गुरुदेव की राह पर चलकर एक बेहतर देश का निर्माण नहीं कर सकते। बेहतर भारत ही नहीं, दुनिया का निर्माण गांधी मार्ग पर चलकर कर सकते हैं। यह निर्माण उनके राजनीतिक नहीं, सामाजिक और रचनात्मक कामों के जरिए ही संभव है, जो वे अपने अन्तिम वसीयत में लिख गए हैं। उद्योग सबको काम नहीं दे सकता। संभव ही नहीं हैं। फिर विकल्प क्या है? विकल्प गांधीजी के पास है। मनुष्यत और मनुष्यता को दाँव पर लगाकर विकास का जो ढाँचा तैयार कर रहे हैं, वह आत्मघाती है। वह दिखाई भी देने लगा है। निराला ने भी तब चरखा को लेकर कवि और महात्मा के वैचारिक मतभेदों पर 'चरखा' नाम से लम्बा प्रबन्ध लिखा था। उसे भी पढ़ना चाहिए। गांधीजी जयन्ती का यह 150वाँ साल है। इसलिए, हमें फिर से गांधी को पढ़ना चाहिए। टैगोर के उस प्रबन्ध को भी और आज के समय को भी। तब हमें यह भी सोचने का अवकाश मिलेगा कि यदि हम गांधी के मार्ग पर चलते तो आज जितनी दुश्वारियाँ मनुष्य सभ्यता के सामने अपने वीभत्स रूप में प्रकट हुई हैं, वह हुई होती? यह भी सोचें कि भारत के तथाकथित आधुनिक मन्दिर आज किस हाल में हैं? वे अपने लक्ष्य को प्राप्त कर सके? सिर्फ एक उदाहरण यहाँ देंगे। राँची में एचइसी का निर्माण हुआ। हैवी मशीन

यहाँ बनते थे। पं नेहरू के सपनों की यह कम्पनी हैं। तब 22 हजार आदमी काम करते थे। सात हजार एकड़ जमीन अधिग्रहित की गई थी। 12 मुण्डा गाँवों को उजाड़ा गया था। कम्पनी और पूरा रिहायशी साढ़े तीन हजार एकड़ में बना। बाकी तमाम फैक्ट्रियाँ लगी ही नहीं। आज एक-डेढ़ हजार आदमी काम कर रहे हैं। एचइसी अपनी बाकी जमीन बेच रही है। उसकी जमीन पर ही क्रिकेट स्टेडियम बना। विधानसभा और हाइकोर्ट बन रहे हैं। अब कल्पना कीजिए, उन परिवारों को जो आज से साठ साल पहले उजड़े। उनकी जमीन गई। रोजी-रोजगार किया। दरबदर हुए, लेकिन हासिल क्या हुआ? और, देश को भी हासिल क्या हुआ? अब तो सरकार अपनी हर कम्पनी को निजी हाथों में सौंपने का उद्यम कर रही है। ऐसे देश में न जाने कितने आधुनिक मन्दिर हैं, उनका आज तक सर्वे नहीं हुआ कि वे जिन उद्देश्यों के लिए बने, वह कितना पूरा कर सके। तब, हमें पता चलेगा कि दूरदर्शी कौन था? तब हम आधुनिकता का अर्थ और अभिप्राय भी समझने की कोशिश करेंगे। यह भी कि यह हमारे भारतीय चिंता के अनुकूल था या नहीं?

गणेश मंत्री ने डॉ. राम के वेता की पुस्तक 'न्यू टेक्नोलॉजी-ए गांधियन कॉन्सेप्ट' का हवाला दिया है। वेता कहते हैं– 'गांधी की मूल्य प्रणाली में जोर तन्त्र पर नहीं, मनुष्य पर रहा है। मनुष्य जिसका अपना नितान्त निजी जीवन है और जो परिवार, ग्राम, समुदाय और राष्ट्र के सदस्य के रूप में एक समग्र तन्त्र का सजीव अंग भी है। पुर्जा नहीं, सजीव अंग। यही कारण है कि गांधी के लिए जितना साध्य महत्वपूर्ण है, उतना ही साधन भी। साधन-साध्य के इस अभिन्न संबन्ध के कारण ही गांधी बोल्वेशिकों द्वारा की गई जोर-जबरदस्ती को कभी स्वीकार नहीं कर पाए। वे सहज प्रेरणा से यह समझ गए थे कि गलत साधनों से सही साध्य तक पहुँचना असंभव है, क्योंकि कालान्तर में गलत साधनों के आधार पर निर्मित व्यवस्था ही सब कुछ बन जाती है और व्यक्ति गौण हो जाता है।' इसलिए हम अपने युग को देखते हुए ममफोर्ड के इस कथन को याद रखें कि 'अपने मानवीय आधार के नष्ट होने के बाद कोई भौतिक ढाँचा अधिक समय तक खड़ा नहीं रह सकता। मेगामशीन और मशीन मिथक के आधार पर खड़े ढाँचे की भी यही स्थिति है।' गांधीजी का चरखा यही संदेश तब दे रहा था। गांधीजी ने ''कविवर और चरखा'' नाम से 11 मार्च, 1926 के अंक का एक अंश इसी ओर प्रकाश डालता है। वे लिखते हैं– ''जीवन एक सजीव अखंड वस्तु है। अन्ततः महत्व तो उस आन्तरिक सत्ता का ही है जो हमें प्राणित करती है। यह सही नहीं है कि हमारे हाथों में बल की कमी है। सत्य तो यह है कि हमारा मन जाग्रत नहीं हुआ है... इसलिए हमारी सबसे बड़ी लड़ाई मानसिक शिथिलता के विरुद्ध ही है। गाँव भी एक सजीव हस्ती है। आप इसके किसी भी विभाग की उपेक्षा नहीं कर सकते, एक विभाग की उपेक्षा करने से दूसरे विभाग को भी नुकसान पहुँचेगा। यह समझ लेना चाहिए कि हमारे देश की आत्मा एक और अखंड है। उसी तरह हमारे दुख और दुर्बलताएँ

भी एक-दूसरे से गुथी हुई हैं और इसलिए अखण्ड हैं।'' फिर भी दोनों के बीच एक अद्‌भुत सामंजस्य और एक दूसरे की समझ के प्रति आदर और संमान सदैव बना रहा। टैगोर का गांधीजी को 27 दिसंबर, 1925 का पत्र देख सकते हैं। टैगोर ने लिखा है— ''मैंने वह पत्र देख लिया है जो आपने शास्त्री महाशय को लिखा है। यह आपके उदात्त मनोभाव से परिपूर्ण है। मैं आपको आश्वासन देता हूँ कि यदि जिस प्रयोजन को आप सत्य समझते हैं, उसके लिए यदि आप मुझे कठोर आघात भी पहुँचाते हैं तो मैं उस आघात को सहन करूंगा और उससे आहत नहीं हूँगा। इससे हमारे व्यक्तिगत संबन्धों पर आँच नहीं आएगी जो हमारे परस्पर के संमान पर आधारित है।''

इस पत्र के प्रसंग के पीछे का संदर्भ यह है कि चरखे को लेकर गांधीजी ने 'कवि और चरखा' नाम से जो उत्तर दिया था, उसकी पहली पंक्ति में गांधीजी ने रवींद्रनाथ को 'सर' लिख दिया था ''...कुछ समय पहले जब सर रबीन्द्रनाथ की चरखे की आलोचना प्रकाशित हुई थी...।'' इस सर की उपाधि लिखे जाने पर कुछ लोगों ने माना कि गांधीजी ने ईर्ष्या के कारण ही 'सर' लिखा। जब गांधीजी को मालूम हुआ कि उनके 'सर' लिखने से कविवर को कष्ट हुआ तो उन्होंने शान्तिनिकेतन के वरिष्ठ अध्यापक शास्त्री महाशय को अपनी स्थिति का स्पष्टीकरण देते हुए इस उम्मीद से पत्र लिखा कि यह सन्देश टैगोर तक पहुँचा दिया जाएगा।... गांधीजी ने लिखा कि ''....कृपया आप कवि से यह आश्वासन प्राप्त करें कि कम से कम उन्होंने तो मुझे गलत नहीं समझा है।''

इस तरह, इस चरखे ने दोनों के बीच बहस का स्पेस तो क्रिएट किया, विवाद का नहीं। अमेरिकी पत्रकार लुई फिशर ने लिखा है— गांधीजी गेहूँ के खेत की तरह हैं तो टैगोर गुलाब बाग की तरह। मत-मतान्तर के बावजूद दोनों एक-दूसरे के स्वास्थ्य की चिन्ता करते थे। दोनों के बीच 1915 से 1941 तक के पत्र-व्यवहारों में इस ऊष्मा को देखा जा सकता है। हालाँकि चरखे की विवाद की आँच उस समय कई पत्र-पत्रिकाओं तक पहुँची थी। कुछ का निराला ने अपने उसी चरखा वाले लेख में किया है। उसे भी देखना चाहिए। निराला ने लिखा है— ''गांधी-रबीन्द्र-विवाद पर 'भारती' की सुयोग्य संपादिका श्रीमती सरला देवी चौधुरानी की कुछ टिप्पणियाँ मैंने उसी (अस्वस्थ) अवस्था में पढ़ी थी। एक शीर्षक है— 'कवि ओ कर्मीर लड़ाई' और एक दूसरी है 'गुरु-गंजना'...''। निराला ने एक तरह से इस लम्बे लेख में सरला देवी को भी जवाब दिया था। निराला के उस लेख को भी पढ़ना चाहिए, जो 'प्रबन्ध प्रतिमा' में संग्रहित है।

हमें देखना चाहिए, 94-95 साल बाद क्या आज इस तरह की बहस की गुंजाइश बची हुई है? नहीं, तो उसके पीछे क्या कारक हैं? क्या गांधीजी की आज भी जरूरत नहीं बनी हुई है? आज फिर से गाँव-गणराज्य की बात हो रही है तो गांधी केंद्र में आएँगे ही। क्या गाँवों को सशक्त और संपन्न किए बिना हम शहर को बेहतर बना सकते हैं? देश की

आर्थिक संपन्नता का मार्ग तो गाँव ही प्रशस्त करेगा, इसलिए गाँव की बड़ी आबादी का सही नियोजन तो करना पड़ेगा। आजादी के बाद हम जिस मार्ग पर चले, 71 साल बाद उसका मूल्यांकन तो करना चाहिए। एकबारगी पीछे मुड़कर देख लें, फिर आगे बढ़ें। गांधीजी की 150वीं जयन्ती वर्ष में तो हम एक कदम ठहरकर सोच ही सकते हैं।

सन्दर्भ:—

1. महात्मा और कवि-सव्यसाची भट्टाचार्य
2. प्रबन्ध प्रतिमा : निराला
3. मार्क्स, गांधी और समसायिक संदर्भ : गणेश मंत्री
4. गांधी की कहानी-लुई फिशर
5. महात्मा गांधी-एक जीवनी—बीआर नन्दा
6. गांधी एंड टैगोर: ए क्रिटिकल एनालासिस-इनाम उल हक
7. महात्मा गांधी-भवानी दयाल सन्यासी
8. मेरे सपनों का भारत : गांधी
9. भारतीय राष्ट्रवाद की सामाजिक पृष्ठभूमि एआर देसाई

सम्पर्क: ध्रुव तिवारी का मकान, तपोवन गली, नीचे मोहल्ला,
रांची, झारखंड 834001

गांधी, टैगोर और नारीवाद

–आनन्द सौरभ

सरकारी आंकड़ों के मुताबिक भारत में हर हजार पुरुषों पर 933 महिलाएँ हैं। आदर्श स्थिति में यह संख्या बराबर में होनी चाहिए। काश कि यह लैंगिक भेद केवल संख्या तक सीमित रहता। ऐतिहासिक रूप से समाज की यह आधी आबादी विश्व भर में लैंगिक भेदभाव का शिकार रही हैं। सभ्यता की यात्रा में समाज पितृसत्तात्मक होता गया, इस कदर कि महिलाएँ अक्सर दोयम दर्जे की नागरिक बन गयीं, जिनकी सार्वजनिक पटल पर उपस्थिति नगण्य थी। उनके पास कर्तव्यों की तो लम्बी फेरहिस्त थी, लेकिन अधिकारों का सम्बल न था। इतिहास में चन्द महिलाओं को छोड़ दें तो उनका जिक्र भी न था। समानता तो दूर की कौड़ी थी जब शिक्षा, स्वास्थ्य और भू-स्वामित्व जैसे बुनियादी मानवधिकारों पर भी महिलाओं को हक नहीं था। कब तक यूं ही यह आधी आबादी दुनिया भर में यह उत्पीड़न झेलती। फ्रांसिसी क्रान्ति ने दुनिया को समानता, स्वतन्त्रता और बंधुत्व के महत्व से परिचय कराया था। समानता की यह मांग दुनिया भर की महिलाओं में भी उठी और इसने एक मजबूत आन्दोलन का रूप ले लिया। नारीवाद, आन्दोलन का लक्ष्य था ऐसे समाज का निर्माण जहाँ महिलाओं को राजनीतिक, सामाजिक, आर्थिक और व्यक्तिगत समानता हासिल हो, जहाँ जेंडर (लैंगिक) भेदभाव न हो और महिलाओं को अपनी पूर्ण क्षमता और प्रतिभा को पाने के अवसर हों। एक आन्दोलन के तौर पर नारीवाद नारी स्वतन्त्रता और समतामूलक समाज के निर्माण का उद्यम करता है। एक विचारधारा और दर्शन के तौर पर यह समाज में नारियों की वास्तविक स्थिति का पता लगाता है, साथ ही उनकी चहुँमुखी विकास और बेहतरी के लिए समाधान भी देता है। महिलाओं को कैसे उनका वाजिब हक मिले, कैसे उन्हें पुरुषों के बराबर अवसर मिले और कैसे समाज में व्याप्त पितृसत्ता, गैर बराबर शक्ति सम्बन्ध, लैंगिक भेदभाव, रूढ़िवादिता, वस्तुनिष्ठता, यौन वस्तुकरण, यौन हिंसा, उत्पीड़न, आदि समाप्त हो सके, नारीवाद इन बुनियादी सवालों पर विचार करता है। इस शोध पत्र में हम नारीवाद के संक्षिप्त इतिहास एवं इसकी कुछ प्रमुख धाराओं सहित आधुनिक भारत के

दो प्रमुख मनीषी एवं चिन्तक महात्मा गांधी एवं गुरुदेव रबीन्द्रनाथ टैगोर की नजरों से नारीवाद को समझने का प्रयास करेंगे।

नारीवाद का संक्षिप्त इतिहास

आधुनिक काल में विचारधारा एवं आन्दोलन के तौर पर नारीवाद की शुरूआत पश्चिम जगत में अठारवीं सदी में हुई। यह वह काल था जब औद्योगिक क्रान्ति से समाज का स्वरुप बदल रहा था और पुनर्जागरण से तार्किकता और वैज्ञानिक चिन्तन, आदि जन मानस में पैठ कर रहा था। यह मध्ययुगीन सभ्यता से आधुनिक सभ्यता का संक्रमण काल था। इस पृष्ठभूमि में मैरी वूल्सटनक्रॉफ्ट और जेन ऑस्टेन जैसी महिलाओं ने समाज में परिवर्तन की मुहीम छेड़ी। इन महान नारियों की अगुवाई में महिलाओं की गरिमा, समानता और उनकी मूलभूत अधिकारों की बातें सार्वजनिक विमर्श में उठायी गयीं।

उन्नीसवीं सदी आते आते नारीवाद ने एक प्रबल आन्दोलन का रूप ले लिया। 1830 से बीसवीं सदी के शुरूआती दशकों तक की समयावधि को नारीवाद का पहला चरण माना जाता है। नारीवाद के पहले चरण में महिलाओं के लिए अवसर एवं राजनीतिक अधिकारों की मांग की गयी। उन्हें मतदान का अधिकार मिले, इसको लेकर आन्दोलन चलाये गए। 1848 में आयोजित सेनेका फॉल्स कन्वेंशन से इस चरण की आधिकारिक शुरूआत मानी जाती है जिसमें सैकड़ों की संख्या में महिलाओं एवं पुरुषों ने हिस्सा लेकर लैंगिक समानता की मांग की। एलिजाबेथ कैंडी स्टेनटन ने सेनेका फॉल्स घोषण ाापत्र तैयार किया जिसमें नए आन्दोलन और उसके तरीकों का प्रारूप तय किया गया। यह उदारवादी नारीवाद का काल था। राजनीतिक अधिकारों की मांग से बढ़ता हुआ नारीवाद यौन, प्रजनन एवं आर्थिक मोर्चों पर भी समानता एवं अधिकारों की मांग करता हुआ अपने दूसरे चरण में प्रवेश कर गया।

1960 के दशक में नारीवाद ने अपने दूसरे चरण में जब प्रवेश किया तब दुनिया भर में युद्ध विरोधी, सिविल अधिकार आन्दोलन चल रहे थे। दुनिया दोध्रुवीय थी और वामपंथ उभार पर था। यह रेडिकल नारीवाद का चरण था। 1968 में रेडिकल नारीवादियों ने मिस अमेरिका प्रतियोगिता का विरोध किया। उनका मानना था कि ऐसे उपक्रम महिलाओं का वस्तुकरण करते हैं तथा उन्हें दोयम दर्जे का बनाते हैं। इसी वर्ष नारीवादी चिन्तक सिमोन द बोऊवार की 'द सेकेंड सेक्स' और शूलामिथ फायरस्टोन की किताब द डाइलेक्टिक्स ऑफ सेक्स ने रेडिकल नारीवाद की नींव रखी।

दूसरे चरण में रेडिकल हो गया। नारी मुक्ति के लिए परिवार, समाज और सरकार जैसी मूलभूत संस्थाओं के पितृसत्तात्मक होने के कारण उन्हें पूरी तरह खत्म कर पुनर्गठित करने की वकालत की जाने लगी। हालाँकि यह रेडिकल नारीवाद केवल अभिजात्य महिलाओं एवं शिक्षित महिलाओं के एक धरे तक ही सीमित रहा।

नारीवाद के तीसरे चरण की शुरूआत 1990 के दशक से होती है। जेनेरेशन एक्स यानी 1960 और 1970 के दशकों में जन्मी महिलाओं ने इस चरण में अग्रणी भूमिका निभायी। उन्होंने पहले और दूसरे चरणों में मिले राजनितिक - आर्थिक और सामाजिक न्याय की लड़ाई को आगे बढ़ाया। लिंगभेद (सेक्सिज्म), वर्ग संघर्ष और नस्ल भेद की लड़ाई भी इस संघर्ष में पहले से ही शामिल हो चुकी थी, और इस चरण में यह और भी पृष्ठभूमि में आया। मीडिया में महिलाओं के चित्रण को भी इस चरण में प्रमुखता से उठाया गया।

गांधीवादी नारीवाद

नारीवाद गांधी दर्शन एवं चिन्तन का महत्वपूर्ण आयाम रहा है। गांधी हमेशा से स्त्रियों के अधिकारों और समाज में उनके सामान हक के पक्षधर रहे और इसके लिए उन्होंने सतत संघर्ष किया। जो महिलाएँ पीढ़ियों से घर के चौखटों के भीतर थीं, गांधी ने उन्हें सार्वजनिक जीवन में लाने का काम किया। महिला सशक्तिकरण की दिशा में यह बहुत बड़ा कदम था। गांधी के जन आन्दोलनों में महिलाएँ मुख्य रूप से सक्रीय रहीं। एक ऐसे समाज में जो रूढ़िवादी और पितृसत्तात्मक था, महिलाओं का गांधी के आन्दोलनों का हिस्सा बनना क्या किसी क्रान्ति से काम था।

सत्याग्रह एवं अहिंसा महात्मा के वे हथियार थे जिससे वह न केवल आजादी की लड़ाई लड़ रहे थे बल्कि इसकी बदौलत वे सामाजिक परिवर्तन की भी मुहीम छेड़े थे। एक ऐसे समाज में जहाँ लैंगिक हिंसा न केवल सर्वव्याप्त हो बल्कि उसे मान्यता भी मिली हो, गांधी ने उन सभी सामाजिक हिंसाओं के खिलाफ सत्याग्रह छेड़ दिया। उन्होंने बाल विवाह, दहेज और पर्दा प्रथा जैसी कुरीतियों पर जम कर हमला बोला, वहीं स्त्री शिक्षा, स्वास्थ्य एवं स्वाबलम्बन का भरपूर प्रचार, प्रसार किया।

महात्मा गांधी ने इस सम्बन्ध में लिखा, ''समाज में महिलाओं की भूमिका से जुड़ी'' विशाल समस्या के समाधान में जीवन के हर क्षेत्र में, चाहे व्यक्तियों या राष्ट्र के लिए हो, सत्य और अहिंसा को स्वीकार्य बनाना ही मेरा योगदान है। मुझे उम्मीद है कि ऐसा करने से महिलाएँ निर्विवाद तौर पर नेतृत्वकर्ता का तौर पर उभरेंगी और मानव विकास की यात्रा में उन्हें उनका स्थान मिलेगा।'

महात्मा गांधी ने अपने सहयोगी के तौर पर महिलाओं को समुचित स्थान दिया। कस्तूरबा गांधी न केवल उनकी धर्मपत्नी थीं, बल्कि उनके राजनातिक और आध्यात्मिक यात्रा की सहचारिणी भी थीं। सरोजिनी नायडू, राजकुमारी अमृत कौर, सुचेता कृपलानी जैसी सशक्त महिलाएं गांधी की राजनीतिक सहयोगी थीं।

गांधीजी का स्पष्ट मानना था कि महिलाओं की सामाजिक आर्थिक पिछड़ेपन के लिए अशिक्षा जिम्मेदार है। उन्होंने कहा कि शिक्षा के माध्यम से स्त्रियों के ऐतिहासिक पिछड़ेपन को मिटाया जा सकता है, और इसके लिए गांधी ने स्त्री शिक्षा के लिए आवाज उठायी और उसे अपने कार्यक्रमों में शामिल किया।

'जब उनके पास समुचित शिक्षा होगी, तभी उनके पास समुचित ज्ञान होगा और वे समाज में अपने गैर-बराबर स्थिति को समझ पाएंगी और उसे दूर करने का रास्ता निकालेंगी।'

गांधीजी विवाह संस्था के प्रबल समर्थक थे पर यहाँ भी वह पति पत्नी की बराबरी की वकालत करते थे। उनका मानना था कि पत्नियाँ पति की सेविका नहीं, बल्कि जीवनसंगिनी एवं मित्र होती हैं। दोनों पारस्परिक सम्मान के हकदार हैं। वह स्त्री-पुरुष सहजीवन के समर्थक थे। अपने निजी जिन्दगी में भी उन्होंने खुद को ऐसे ही ढाला था। हम जानते हैं कि गांधी का जीवन उनके लिए एक प्रयोगशाला था जहाँ वह निरंतर बेहतर मूल्यों के लिए प्रयत्न करते। शुरूआती दौर के सत्तावादी पति से उन्होंने खुद को बा के एक सच्चे मित्र के तौर पर बदला था।

प्रजनन एवं यौन अधिकारों को लेकर रेडिकल नारीवाद अक्सर गांधी की आलोचना करता है, लेकिन गांधी के लिए प्रजनन एक जीवनदायिनी प्रक्रिया थी और न कि भोग की वस्तु। गांधीजी महिला एवं पुरुष दोनों के लिए ही ब्रह्मचर्य के हिमायती थे। एक ऐसे दौर में जब महिलाओं का वस्तुकरण हो रहा था, गांधी महिलाओं को मातृत्व शक्ति के तौर पर समाज में स्थापित कर रहे थे। महिला शरीर भोग की वस्तु नहीं बल्कि उन्हें मानसिक गुलामी से दूर होना सिखाया जाना चाहिए, उन्हें अपने शरीर की पवित्रता को सिखाया जाना चाहिए, 'सर्वोदय' की उनकी संकल्पना में महिलाओं का उदय भी सन्निहित था। 'रामराज्य' की उनकी परिकल्पना एक ऐसे समाज की थी जहाँ स्त्री पुरुष सहित किसी भी तरह की गैर बराबरी न हो।

इन्हीं समतावादी विचारों और उसके लिए वृहत योगदान के कारण महात्मा गांधी को इतिहास एक ऐसे नारीवादी के तौर पर भी याद करता है जिसने बीसवीं सदी में महिलाओं के सशक्तिकरण की नयी दिशा और दशा दी।

टैगोर का नारीवाद

रबीन्द्रनाथ टैगोर भारतीय साहित्य के शीर्षपुरुषों में शामिल हैं। गुरुदेव न केवल एक महान कवि और लेखक थे, बल्कि संगीतकार, नाटककार, चित्रकार, और दार्शनिक भी थे। महाकाव्य गीतांजलि के लिए 1913 में उन्हें साहित्य के नोबेल पुरस्कार से सम्मानित किया गया। यह सम्मान पाने वाले वह अब तक के एकमात्र भारतीय हैं। टैगोर मानवतावादी थे। उन्होंने मानवता को राष्ट्रवाद से भी ऊपर रखा। महात्मा गांधी और गुरुदेव रबीन्द्रनाथ टैगोर दोनों समकालीन थे। टैगोर ने ही गांधी को महात्मा की उपाधि दी थी। लेकिन राष्ट्रवाद, देशभक्ति, संस्कृति सहित कई विषयों पर दोनों भिन्न राय रखते थे।

एक साहित्यकार के तौर पर टैगोर ने अपनी रचनाओं में महिला चरित्रों को मजबूती से गढ़ा। अपने नारी पात्रों के माध्यम से उन्होंने विधवा पुनर्विवाह, सार्वजनिक क्षेत्र में स्त्रियों की भागीदारी, अन्तर्जातीय विवाह जैसे लैंगिक भेदभाव वाले विषयों को मजबूती से उठाया

जिस पर साहित्यिक विमर्श नहीं होता था। अपनी रचनाओं से उन्होंने वे सभी मुद्दे अपनी रचनाओं से उन्होंने वे सभी मुद्दे उठाये जो उस वक्त नारीवादी आन्दोलनों के केन्द्र में थे। टैगोर बंगाल पुनर्जागरण के प्रमुख संवाहक थे जिसने सांस्कृतिक सुधारों के माध्यम से महिलाओं की स्थिति को बेहतर करने का कार्य किया।

उनकी रचना 'स्त्रीर पत्र' एक ऐसी विधवा की मार्मिक कहानी है जो 19वीं सदी के महिलाओं की कठिन और प्रतिकूल परिस्थितियों को बयां करती है। मृणाल और बिन्दु के चरित्र पितृसत्तात्मक समाज में नारियों के जीवन की वेदना और उनके संघर्ष को उजागर करते हैं। विधवा बिन्दु को लेकर मृणाल का अपने परिवारजनों के बीच आवाज उठाना, पर परिवार के कान पर जो तक नहीं रेंगना, बिन्दु का आत्महत्या कर लेना और अन्त में मृणाल का अपने परिवार को छोड़ तीर्थ पर निकल जाना। टैगोर की इस महान रचना में उनकी नारी चरित्र रूढ़ हो चुके लेकिन शक्तिशाली संस्था परिवार से लोहा लेती है। यह तब के दौर में इतना आसान न था।

मृणाल के चरित्र को बारीकी से देखें तो वह वही सारे सवाल उठती दिखती है जो नारीवादी आन्दोलनों द्वारा उठाये जा रहे थे, या फिर भविष्य में उठाये गए। ऊपर हमनें देखा था कि किस प्रकार नारीवादी आन्दोलनों ने मिस अमेरिका जैसे उपक्रमों का इस आधार पर विरोध किया था कि उससे महिलाओं का वस्तुकरण होता है और उनकी प्रतिभा केवल देह तक सीमित कर दी जाती है। मृणाल के विवाह का प्रसंग हो जहाँ मृणाल की सुन्दरता ही उसके चयन का आधार बनती है, या फिर मृणाल के होने वाले पति का उसका यह कह कर मजाक बनाना कि वह किताबें पढ़ कर क्या रायचन्द या प्रेमचन्द बनेगी। मृणाल का यह कहना कि उसकी माँ को अक्सर लगता था कि उसकी बुद्धिमत्ता उसके लिए श्राप बनेगी। टैगोर की रचनाओं का यह सशक्त नारीवादी चरित्र है।

टैगोर की एक अन्य कहानी 'गिरिबाला' में जब गिरिबाला का पति एक अभिनेत्री के साथ भाग जाता है, तो वह किस्मत को कोसने के बजाये खुद अभिनेत्री बनने का फैसला करती है। एक ऐसे दौर में जब विवाहित महिलाओं का थिएटर में काम करना क्या, बाहर निकलना भी खराब माना जाता हो, टैगोर की यह नारी चरित्र अपनी जिन्दगी की दिशा खुद तय करती है और अपने उद्यम में कामयाब होती है। टैगोर के गढ़े कई अन्य नारी चरित्र जैसे बिनोदनी, कल्याणी या फिर चारुलता नारीवाद की कसौटी पर न सिर्फ खरे उतरते हैं बल्कि नारियों के सशक्तिकरण एवं समानता और स्वंत्रतता के उनके संघर्ष में योगदान भी करते हैं।

हालाँकि अपनी रचनाओं एवं निबन्धों से यह भी जाहिर होता है कि वह परिवार जैसी मूलभूत सामाजिक संस्था के पक्षधर थे। 1922 में लिखे एक निबन्ध 'स्त्री एवं घर' में टैगोर महिला एवं पुरुष के बीच टकराव नहीं, बल्कि सद्भाव के पक्षधर थे। नारी मुक्ति

को उन्होंने जरूरी माना, लेकिन वह किसी भी तरह के भटकाव और बिखराव के बिल्कुल खिलाफ थे। नारी समता के लिए संघर्ष करें, यह तो जरूरी है, लेकिन उनका 'पुरुषीकरण' हो जाए, यानी वह पुरुष सहश हो जाएँ , इसे वह गैर जरूरी मानते थे।

गांधी और टैगोर दोनों ने नारियों के उत्थान और सशक्तिकरण में अमूल्य योगदान दिया है। एक ने जहाँ अपने आन्दोलनों से उन्हें सार्वजनिक जीवन में लाने का काम किया, वहीं दूसरे ने अपनी लेखनी से महिलाओं के हितों को आवाज दी। ''मीटू'' के इस दौर में जब नारीवाद अपने चौथे चरण में प्रवेश कर रहा है, और महिलाएँ सोशल मीडिया के जरिये अपनी आवाज बुलन्द कर रहीं हैं , गांधी और टैगोर दोनों आज भी प्रासंगिक हैं। गांधीवादी नारीवाद हो या टैगोर की नारी पात्र, वे इक्कीसवीं सदी की महिलाओं को उनके हक का, और उससे भी बढ़कर जिम्मेदाराना हक का बोध कराती हैं।

'लेखक जामिया मिलिया इस्लामिया में पीएचडी शोधार्थी हैं।

सन्दर्भ:

1. Ryland, S- ¼1977½- The Theory And Impact Of Gandhi's Feminism- Journal of South Asian Literature, 12(3/4), 131&143- Retrieved March 17, 2020, from www-jstor-org/stable/40872163
2. Parihar, A-K-S-, Mahatma Gandhi and his Social Wok, Swastik Publications, New Delhi, India, 2014, P- 135
3. Hingorani Ed,A-J-, To the Women by M-K- Gandhi, law Journal Press, Allahabad,Vol-iii, pp- 122-123 (Quotation collected from Reddy, A-, Ranga, Gandhi and Globalisation, Mittal Publication, Delhi, India, 2009, P- 124)
4. Parihar, A-K-S-, Mahatma Gandhi and his Social Wok, Swastik Publications, New Delhi, India, 2014, P-138
5. Gandhi, M-K-, Women and Social Justice, Navajivan publishing House, Ahmedabad, 1954, P- 4
6. Lal, Basant Kr-, Contemporary Indian Philosophy, Motilal Banarsidass Publishers Pvt- Ltd-, Delhi, India, 2005, P-146 Tiwari A- The world of women, in The light of Rabindranath Tagore*s The Home and The World, 2016-
7. Tagore Rabindranath- Punishment- Trans- William Radice ND- Print-
8. Tagore, Rabindranath- Three Women- Trans- Arunava Sinha- New Delhi: Replica, 2010- Print-
9. Tagore, Rabindranath- The Sand of Eye- Trans- Radha Chakrabarty- New Delhi: Penguin, 2003-
10. Wollstonecraft, Mary- A Vindication of The Rights of Woman- 1792-

टैगोर और महात्मा गांधी के शिक्षा सम्बन्धी चिन्तन

–सच्चिदानन्द सिंह

डॉ राधाकृष्णन् ने उपनिषद् दर्शन के आत्मा एवं ब्रह्म के सम्बन्ध की व्याख्या करते हुए कहा है 'विषयी और विषय, ब्रह्म और आत्मा, विश्वीय एवं आत्मिक दोनों ही तत्व एकात्मक माने गये हैं, ब्रह्म ही आत्मा है।' (इंडियन फिलोसोफी, vol-1 च169)।

तैत्तिरीय उपनिषद में 'वह ब्रह्म जो पुरुष के अंदर है और वह जो सूर्य में है दोनों एक है' (तैत्तिरीय उपनिषद् 2.8)।

उपरोक्त वक्तव्य सनातन धर्म का मौलिक चिन्तन है। सनातन अर्थात जिसमें पुरा 'तन', 'सना' हो। यह तन किसमें सना है यह ऊपर की पंक्तियों में व्यक्त हुआ हैं। इसी सनातनी चिन्तन परम्परा से निकले भारत के दो मनीषियों गुरुदेव रबीन्द्रनाथ टैगोर और महात्मा गांधी के शिक्षा सम्बन्धी मौलिक चिन्तनों की यहाँ चर्चा हमारा मुख्य ध्येय है।

गुरुदेव रबीन्द्रनाथ टैगोर के शिक्षा सम्बन्धी चिन्तन

ईशावास्यमिदं सर्वं यत्किञ्च जगत्यां जगत।

तेन त्यक्तेन भुञ्जीथा मा गृधः कस्यस्विद्धानम। (ईशोपनिषद 1)

गुरुदेव रबीन्द्रनाथ टैगोर शिक्षा सम्बन्धी अपने लेख 'शिक्षा का मिलन' में इसकी व्याख्या करते हुए कहते है- 'ऋषि कहते हैं 'मा गृधः' - लोभ न करो। क्यों न करो? इसलिए कि लोभ से सत्य नहीं मिलता। कोई कह सकता है-सत्य नहीं मिलता तो न मिले हम तो भोग करना चाहते हैं। 'भोग न करो' यह तो नहीं कहा गया। 'भुञ्जीथा' - भोग अवश्य करो। लेकिन, सत्य को छोड़कर आनन्द को भोग करने का उपाय ही नहीं है। और सत्य क्या है? सत्य यह है- 'ईशावास्यं सर्वम'। संसार में प्रत्येक वस्तु ईश्वर से आच्छन्न है। जो कुछ चल रहा है वही चरम् सत्य होता, उसके ऊपर और कुछ न होता। तो गतिशील वस्तुओं को यथा साध्य संग्रहित करने में ही मनुष्य की सर्वोच्च साधना होती है। तब तो लोभ से ही उसे सबसे बड़ी सफलता मिलती। लेकिन अंतिम तो यह है कि ईश्वर से सब कुछ परिपूर्ण है। इसलिए

आत्मा द्वारा सत्य का भोग करना ही परम साधना है। और 'तेन त्यक्तेन भुञ्जीथा': त्याग से ही इस भोग की साधना सम्भव है, लोभ से नहीं। इसके विपरीत जो साधना है उसे भी मैंने देखा है। 7 महीने तक अमेरिका के गगनभेदी ऐश्वर्यपुरी में रह आया हूँ। वहाँ 'यत्किञ्च जगत्या' का ही आविर्भाव है, और 'ईशावास्यं सर्वम' तो डॉलर की धूल से आच्छन्न है। इसलिए वहाँ 'भुञ्जीथा' का पालन धन से होता है, सत्य से नहीं, लोभ से होता है त्याग से नहीं।' (रबीन्द्रनाथ टैगोर, शिक्षा का मिलन, पृ.286)

ऐक्य से ही सत्य मिलता है। ज्योहीं भेद बुद्धि उत्पन्न होती है क्षति होने लगती है और बाहरी दबाव देकर इस पूर्णता को छीनने की कोशिश करती है तब मनुष्य संख्या वृद्धि की दिशा में ही रात दिन दौड़ता रहता है। पश्चिम के देशों ने इस बाहरी दबाव रूपी माया पर विजय पाने के लिए इह लोक के कष्टों के जड़ों तक पहुँच उस पर आघात कर मनुष्यों को मृत्यु के आक्रमण से बचाने की चेष्टा की है। अर्थात् अधिभौतिकता की प्यास मिटाने के लिए, जो आत्मिक साधना की बुनियादी स्तर है, कमरतोड़ प्रयास कर रहा है। वहाँ विज्ञान का अति विकास इसी से आकर्षित है। यही आधार है जिससे वस्तु जगत की भेदों को जाना जा सके और उस से पार पाया जा सके। जिस प्रकार पूर्व देश के ज्ञानियों ने तत्वज्ञान के सन्दर्भ में न जानना ही बन्धन का कारण माना है। जानने से मुक्ति मिलती है, उसी प्रकार पश्चिम के आकर्षण रूप में अधिभौतिकता के क्षेत्र को पूरा जान कर हम उसके भेदों से मुक्त हो सकते हैं अर्थात माया से मुक्त हो सकते हैं। वस्तु जगत इस बुनियादी स्तर को उठा कर ही वह इस पर आरूढ़ होकर पूर्व की अंतरात्मा (तत्त्वज्ञान) की साधना से अविछिन्नता स्थापित कर पाएगा। अत: अगर पूर्व और पश्चिम की चित्त में बिछुड़न हो जाए तो दोनों के अपने-अपने प्रयास व्यर्थ हो जाएँगे। इस पूर्व पश्चिम के मिलन का मूल मंत्र भी उपनिषद में वर्णित है। विज्ञान की आवश्यकता (यत्किक्रच जगत्यां जगत)-जिसके पाश्चात्य देश ज्यादा आग्रही और तत्वज्ञान (ईशावास्यमिदं सर्वं)- पूर्वी देश जिसके ज्यादा आग्रही है दोनों को मिलाने की बात उपनिषद के ऋषि कह गए है-

विद्यां चाविद्यां चयस्तद्वेदोभयं सह।

अविद्यया मृत्युं तीर्त्वा विद्ययामृतमश्नुते।। (ईशोपनिषद् मंत्र 11)

अर्थात् तत्वज्ञान और वस्तुज्ञान दोनों के बंधन व अज्ञानता का उलझन मृत्यु और इसके बंधन रूपी अज्ञानता के गाँठो को खोल कर ही हम एकत्व रूपी अमृत प्राप्त कर सकते। इस मिलन के अभाव में पश्चिम के देश अशान्ति से क्षुब्ध और निरानंद रहेंगे। वहीं पूर्व के देश दैन्य से पीड़ित और निर्जीव रहेंगे।

ध्यान रहे टैगोर ने इस साधना में किसी विशेष देश की मुक्ति की बात न कह केवल मानव मात्र की मुक्ति की बात कही है। वे यह प्रार्थना भी करते हैं कि भारत समस्त पूर्वी जगत का प्रतिनिधि बनकर इस सत्य साधना के लिए अतिथिशाला स्थापित करें। अपने

साधन सम्पदा के बल पर विश्व को नियन्त्रित करें और पूरे विश्व में आमन्त्रित होने का गौरव प्राप्त करें। भारत में विद्यापीठों के निर्माण में इसी शिक्षा मंत्र की कामना टैगोर करते हैं। नालंदा-विक्रमशिला विश्वविद्यालय, बौद्ध संघों जैसे विद्यापीठों में ऐसे ही स्वरूपों वाली शिक्षा की बात टैगोर बतलाते है, जिसका विस्तृत वर्णन आगे विश्वविद्यालय शिक्षा के सन्दर्भ में किया गया है।

इस प्रकार शिक्षा सम्बन्धी उनके दार्शनिक चिन्तन मनुष्य के भौतिक एवं आध्यात्मिक स्वरूपों में एकत्व स्थापित करने से सम्बन्धित है। यहाँ यह ध्यान देने योग्य है कि दोनों ही जीव के मूल तत्व स्वतन्त्र रूप से विकसित होने चाहिए और विकसित होते हुए अपनी अपनी स्वतन्त्रता के साथ इस एकत्व में समाहित होने चाहिए। अजगर जैसी निगल जाने वाली एकता नहीं जहाँ एक के अस्तित्व को ही निगल लिया जाता हो।

रबीन्द्रनाथ टैगोर के व्यक्तित्व को अगर हम देखें जिसमें उनका जीवन दर्शन, साहित्यिक व्यक्तित्व, शैक्षिक चिन्तन, सामाजिक मन, राजनैतिक चेतना इन सभी का समावेशी स्वरूप इनमें अन्तर्गुम्फित है। ये अपनी विश्वदृष्टि की नजर से एक का सभी में एवं सभी का एक में फैलाव एवं व्यापकता देखते हैं। यह सबको मुक्त करती है एवं मुक्त छोड़ती है। स्वयं को सबमें पाना और देखना और सब को स्वयं में देखना किसी के प्रति विद्वेष को खत्म करती है। वे उसमें निहित प्रकाश का प्रस्फुटन महसूस करना चाहते हैं। विविधता में एकता की भावना के रूप में चेतन और अचेतन तथा जैव और अजैव को स्वीकार करते है। यह प्रकृति के सभी तत्व में उपलब्ध दिव्यता को आस्वाद करना चाहते हैं। ईश्वर के सभी प्राणियों से प्रेम चाहते हैं।

इसी प्रकृति प्रेम, मानव, विश्व बंधुत्व की भावना से सन् 1901 में शान्तिनिकेतन की स्थापना करते है। यह स्थल शिक्षा एवं देशी विदेशी संस्कृति, कला, साहित्य, धर्म, दर्शन, स्थापत्य कला जैसी बहुविषयी ज्ञान अर्जन के खुला आकाश के रूप में था। शान्तिनिकेतन के 'ब्रह्मचर्य आश्रम' की स्थापना टैगोर चिन्तन के शैक्षिक रोमांच के रूप में प्रस्तुत हुआ है। यह आश्रम खुले आकाश में था जहाँ बच्चों को 'कृति के समीप रह कर, उनसे बातें करने एवं उनको महसूस करने की खुली आजादी थी। नया संसार भीड़ से अलग एक स्वतन्त्र और स्फूर्तिप्रद स्थान था। जहाँ बच्चों के मन में जिज्ञासा उत्पन्न होती थी। अपनी कल्पना में गोते लगाने एवं जिज्ञासा को शान्त करने के भरपूर मौके थे। ताकि, वे अपने आश्चर्य भाव को पुष्पित और पल्लवित कर सके। टैगोर के कथन-प्रत्याग में मेरे लिए उद्धार नहीं हैं। मैं खुशी के एक हजार बन्धनों में आजादी का आलिंगन महसूस करता हूँ । (गीतांजलि)

गीतांजलि में ऐसे ही आजादी एवं उन्मुक्तता के ढेरों भाव छन्दबद्ध हुए हैं।

टैगोर का 'कृतिवादी चिंतन रूसो के 'कृतिवाद चिन्तन से भिन्न विचार था। टैगोर, रूसो के 'कृति रहस्य के निकट तो थे ही, साथ ही, इस 'स्थान बिन्दु से आगे निकलते हुए वे यथार्थ के समीप रहते हुए भौतिक जगत के वास्तविक तत्वों से भी सम्बन्ध जोड़े रखना चाहते है। समाज के साथ स्वस्थ एवं जिम्मेदाराना सम्बन्ध जोड़े रखना चाहते हैं। वे कहते हैं अगर मुझे बच्चे को सिखाना हो तो मैं उसे प्रकृती से लय मिलाने की सीख दूँगा, प्रकृति में आनन्द प्राप्त करने की सीख दूँगा, उसमें खुशी प्राप्त करने की सीख दूँगा। बच्चे के वैयक्तिकता, आजादी एवं खुशी के सम्मान को शिक्षा के केन्द्र में रखते है। चारदीवारी से घिरा विद्यालय कल्पना, पहल करने और उसको एक सम्पूर्ण संसाधन बनने में बाधा पहुँचाता है। जबकि प्रकृति के खुला आकाश में बच्चों को शारीरिक गति के विकास के लिए खुला वातावरण मिलता है। जो उनके मानसिक, आध्यात्मिक विकास को बढ़ाता है। शरीर, बुद्धि, आत्मा का सन्तुलित विकास एवं जीवन में सुख व शान्ति मिलती है। विश्व के साथ वह अपने आप को इस रूप में स्थापित करते हैं। शिक्षा का उद्देश्य है ऐसी शिक्षा जो भौतिक जगत एवं आत्मा की एकान्विति स्थापित करें। गांधीजी के 'काम से शिक्षा' का विचार इंद्रिय (शरीर), हृदय (आत्मा) और मस्तिष्क (बुद्धि) के बीच समन्वय का विचार टैगोर के इस (शरीर, बुद्धि, आत्मा) सन्तुलन के विचार से मेल खाता है।

'गतिशील शिक्षा के उस पश्चिमी शैली का टैगोर खण्डन करते है, जिसमें व्यक्तिगत स्वतन्त्रता के कारण स्वार्थ लोलुपता, तृष्णा', वासना, प्रतिस्पर्धा और द्वंद ने जन्म ले लिया हैं। इसके स्थान पर उस आत्मबोध को मान्यता देते है। उसको सच्चे अर्थ में 'वैयक्तिकता' मानते है, जहाँ वह 'ज्यादा देने' एवं 'कम लेने' के विचार से अनुशणित है। इसी भावना से आगे बढ़ने को प्रगतिशील शिक्षा स्वीकारते है।

टैगोर अपने लेख 'शिक्षा का विस्तार' और 'विश्वविद्यालय का रूप', विषयक लेख में 'एज्युकेशन' को स्पष्ट करते हुए इसे पश्चात्य विश्वविद्यालय (योरोप में यूनिवर्सिटी) से गहरे अर्थों में जोड़ते है। जिस अर्थों में इनका स्वरूप विकसित हुआ है उसे पूर्वी देशों के प्रकृति से भिन्न होने के कारण इसकी पद्धति को अपनाने के खतरे की ओर ध्यान दिलाते है। यहाँ सीमित अर्थों में पांडित्य का अभिमान किया जाता है और ज्ञान का विषय संग्रह करने के लोभ से प्रेरित होता है। जबकि इसके विपरीत प्राचीन कालीन नालंदा-विक्रमशिला जैसे भारतीय विश्वविद्यालय थे। जो सर्वसाधारण के चित्त का उद्दीपन, उद्‌बोधन, चरित्र सृष्टि, उच्च गौरव बोध के सृजन से सम्बन्धित थे। मन में ज्ञान-कर्म-हृदयभाव द्वारा जागृत जो परिपूर्ण मनुष्य का आदर्श था, उसे सर्वसाधारण में संचारित करने का उद्योग तत्युगीन विद्यालयों में चल रहा था। स्वभाविक है कि यहाँ के अध्यापकों एवं छात्रों में दायित्व एवं मूल्यबोध का स्तर काफी ऊँचा था। कारण कि यह विद्यालय विश्वदृष्टि से प्रेरित था। सम्पूर्ण विश्व के छात्र यहाँ आकर विद्यार्जन करते थे। इनका उद्देश्य मानव कल्याण का

उच्चतम स्तर प्राप्त करते हुए जीवन प्रणाली में परस्पर घनिष्ठ एक्य को जीना था। इनके अन्दर सम्पूर्ण विश्व के मनुष्य जाति के प्रति गम्भीर श्रद्धा थी। बौद्ध कालीन भारत में तो इसके लिए जगह-जगह बौद्ध संघ होते थे, जहाँ सुधिजन ज्ञान के आलोक को प्रज्वलित रखते थे। इन विश्वविद्यालयों में हेतु विज्ञान चिकित्सा शास्त्र, शब्द शास्त्र, धर्म शास्त्र और तन्त्र विद्या आदि का विशेष अध्ययन होता था। ध्यान, चिन्तन एवं मनन पर विशेष बल था।

पश्चिमी देशों के विश्वविद्यालयों में यह परिवर्तन आया कि वहाँ धीरे-धीरे धर्मशास्त्र का अवलम्बन कम होता गया। धर्म का हस्तक्षेप इससे बिल्कुल बाहर ही चला गया, विज्ञान और तर्क का बोलबाला बढ़ गया। इस यूरोपीय पद्धति का भारत के विश्वविद्यालयों के साथ आन्तरिक मिलन वाला सम्बन्ध नहीं हो सकता। वहाँ की विद्या भी हमारे यहाँ अचल जलाशय की तरह है, उसका गतिशील स्वरूप हम नहीं देख पाते। इसको भारत में लागू करने से सीमित वर्गों तक ही इसका फैलाव होगा। परिणामस्वरूप, जन शिक्षा के साथ इसका गहरा भेद उत्पन्न होने लगेगा। फिर यह पश्चिमी शिक्षा उस ट्रेन की भाँति अन्धेरे रास्ते से गुजरेगी, जिसके बोगी के अन्दर तो प्रकाश होगा पर बाहर अंधेरा कायम रहेगा।

भाषा के सन्दर्भ में टैगोर विचार करते है कि अँग्रेजी भाषा हमारे मन की सहवर्त्ती होकर नहीं चल पाती और ऐसी विद्या में हम कुंठित महसूस करते है। इसलिए हम में से अनेक लोग जिस मात्र में शिक्षा पाते हैं उस मात्र विद्या नहीं पाते। चारों ओर के वातावरण से यह विद्या विच्छिन्न है। अंग्रेजी भाषा में प्रयोजन सिद्धि के लिए लोभ का विषय हो सकता है, जो फूल पर बैठे कीड़े के सामान तो हो सकता है पर मधुकर नहीं बन सकता। जब हमारे देश में मातृभाषा को शिक्षा के माध्यम के रूप में प्रतिष्ठित करने का सुझाव आया। तो अँग्रेजी जानने वाले विद्वान बेचौन होने लगे। क्योंकि, उन्हें ऐसी आशंका थी कि थोड़े से लोगों को अँग्रेजी भाषा का व्यवहार करने का संयोग प्राप्त है। इससे उनका अधिकार कम ना हो जाए। ऐसा देखते हैं कि चीन हो या जापान हो या कम्बोडिया हो या ऐसे ही दूसरे देश जो हमारे यहाँ से बौद्ध चिन्तन को ले गए हैं, उन्होंने उसे अपनी भाषा में उसको लागू किया है।

टैगोर विश्वविद्यालय शिक्षा में साहित्य शिक्षा को अनिवार्य रूप से समाहित करने की बात कहते है। छात्रों में रचना शक्ति के विकास के लिए इसे जरूरी मानते थे।

सनातन का एक अर्थ सतत्ता से भी लिया जाता है, जो तत्कालीन समस्या के समाधान के लिए राह सुझाने के लिए उपस्थित होता है। इस सन्दर्भ से शिक्षाई विमर्श के केन्द्र में टैगोर का 'शिक्षा में हेरफेर' विषयक निबन्ध का जिक्र खास जरूरी है। टैगोर कहते हैं- 'शिक्षा के साथ स्वाधीनता के पाठ को मिलाना होगा अन्यथा बच्चे की चेतना का विकास नहीं होगा।' इस संदर्भ में वर्तमान की शिक्षा प्रणाली को इससे कोसों दूर देखते है। हमारे पास कक्षा में समय की बेफिजूल कमी होती है। हम चाहते है कि विदेशी

भाषा सीख कर इम्तिहान पास कर शीघ्र नौकरी पा ले। बचपन से ही इसके लिए हम भागना और हाँफना शुरू कर देते हैं। इस चक्कर में अगर बच्चों के हाथ में कहीं कोई मनोरंजन की पुस्तक भी दिख जाए उसे फौरन छीन ली जाती है। इसके बदले बच्चों के हाथ में व्याकरण, शब्दकोश, भूगोल के अतिरिक्त कुछ नहीं मिलता। इस तरह उनके बाल काल के भाव को शान्त करने का कोई माध्यम नहीं मिलता। इससे उनकी मानसिक पाचन शक्ति का नुकसान होता है।

जबकि आनन्द के साथ पढ़ने से स्मरण शक्ति भी काफी तेज होती है सहज स्वाभाविक नियम से ग्रहण शक्ति, धारणा शक्ति और चिन्तन शक्ति प्रबल होती। अंग्रेजी शिक्षा में भाव पक्ष और विषय प्रसंग विदेशी होने से शुरू से आखिर तक अपरिचित चीजें होती हैं। इसमें कोई स्मृति जागृत नहीं होती न ही मन में कोई चित्र ही बनता है। अगर संस्कृत भाषा पढ़े होते तो रामायण, महाभारत ही पढ़ लेते हैं। अगर कुछ भी न सीखते तो बच्चों के पास ऐसे पर्याप्त अवकाश तो होते, ताकि वे खेल कूद कर सकते थे। पेड़ो पर चढ़ते, पानी में डुबकियाँ लगाते, फूल तोड़ते, प्रकृति को हजार शरारत से तंग करते। इससे उनका शरीर पुष्ट होता मन प्रफुल्लित होता और बालपन को तृप्ति मिलती। लेकिन, अँग्रेजी सीखने के दौड़ में न तो वो खेल सके, न ही प्रकृति की सत्यता से परिचित ही हो सकें। हम जानते हैं कि स्वतन्त्र चिन्तन शक्ति और कल्पना शक्ति दोनों जीवन यात्रा सम्पन्न करने के लिए अति आवश्यक है। परन्तु, हम देखते हैं कि हमारी शिक्षा में पढ़ने की क्रिया के साथ-साथ इस चिन्तन और कल्पना की क्रिया नहीं होती। हम ढ़ेर का ढ़ेर जमा करते हैं पर, कुछ निर्माण नहीं करते। इस तरह इस नीरस शिक्षा में हम जीवन बिता देते हैं। इस तरह हम सरस्वती के साम्राज्य में मजदूरी करते करते रह जाते है। इस बीच 22 वर्ष की आयु तक जो हमें शिक्षा मिलती है वह हमारे जीवन से ऐक्य स्थापित नहीं कर पाता। अगर बाल्यकाल से ही इस भाषा शिक्षा के साथ-साथ भाव शिक्षा की भी व्यवस्था होती तो समस्त जीवन यात्रा नियमित हो जाती। हमारे जीवन में यथार्थ से सामंजस्य स्थापित हो पाता। परन्तु, यह देखा जा रहा है कि वर्तमान शिक्षा के साथ हमारे जीवन का कोई सम्बन्ध नहीं है और न ही मिलन होने की कोई सम्भावना है।

टैगोर इस सम्बन्ध में 'शिक्षा में हेरफेर' में कहते है- 'हमारे बाल काल की शिक्षा में भाषा के साथ भाव नहीं होता और जब हम बड़े होते हैं तो परिस्थिति इसके ठीक विपरीत हो जाती है अब भाव होते हैं लेकिन उपयुक्त भाषा नहीं होती।' इन्हीं दोनों सन्दर्भों में शिक्षा में हेर फेर करने की जरूरत है। एक ओर बचपन में उसे अपनी भाषा में भाव शिक्षा दिया जाए तो आगे चलकर इस भाव के आधार पर अपनी भाषा में उच्च शिक्षा दे तो उनका जीवन आनन्दित हो जाता है। अन्यथा, विपरीत दिशा में जीवन को निर्देशित करने वाली ऐसी शिक्षा के प्रति मन में एक अविश्वास और आश्रद्धा का भाव पनपने लगता है।

गांधी जी की के शिक्षा सम्बन्धी चिन्तन

गांधीजी के बारे में रबीन्द्रनाथ टैगोर का कथन- 'भक्ति तो हम कर सकते हैं महात्मा गांधी की, जिनकी साधना सत्य की साधना है। मिथ्या के साथ समझौता करके उन्होंने सत्य की सार्वभौम धर्मनीति को अस्वीकार नही किया। भारत की युग-साधना के लिए यह परम सौभाग्य का विषय है। महात्मा गांधी ही एक ऐसे पुरुष हैं जिन्होंने प्रत्येक अवस्था में सत्य को माना है, चाहे वह सुविधाजनक हो या न हो उनका जीवन हमारे लिए एक महान उदाहरण है' (रबीन्द्रनाथ टैगोर, महात्मा गांधी, पृ.74-75)। जहाँ एक तरफ स्वाधीनता लाभ बगैर रक्त की धारा के नहीं देखा गया। वही महात्मा गांधी ने यह दिखा दिया कि हत्याकांड को आश्रय दिए बगैर ही स्वाधीनता प्राप्त की जा सकती है। चाहे जान चली जाए पर आघात नहीं करेंगे, इसी तरह विजयी होंगे। इतना उच्च चिन्तन बल महात्मा गांधी के अन्दर था, यह कोई सामान्य बात नहीं थी।

इस लेख के शुरूआत में सनातन परम्परा का जिक्र हुआ था उस नए सन्दर्भ में महात्मा गांधी को समझने की कोशिश करें। कौन ऐसा व्यक्ति न था, जो इस महात्मा के पास जाकर उसका होकर न लौटे और उस महात्मा को अपने हृदय में न बसा ले। यही तो एकमएक होना है, ऐक्य का भाव है। अपने आप को सब में और सब को अपने आप में पाने का भाव है, यही सनातनता है। जिसे हमने इस लेख के शुरुआत में समझने का प्रयास किया। गांधीजी के यहाँ सत्य और अहिंसा सनातनी परम्परा से ही निकला हुआ है। उनका इन्द्रिय कर्मों के सहारे हृदय और मष्तिष्क से समन्वय (ऐक्य) की बात पर विशेष बल था। इसी चिन्तन के आधार पर प्रकाम से शिक्षा' उनकी मूल शिक्षाई प्रयोग की आधारभूमि बनी। जो आगे चलकर भारत में 'नई तालीम' के रूप में विकसित हुई। इसमें शिक्षा की रूपरेखा, शिक्षा की अभिरुचि और शिक्षा की विधि तीनों प्रारूपों के सम्बन्ध में रणनीति तय की गई। इस सन्दर्भ में उनके द्वारा समय-समय पर किए गए प्रयोगों एवं उसके ठोस नतीजे महत्त्वपूर्ण आधार थे। इनका जिक्र उन्होंने अपनी आत्मकथा में भी किया है।

पहला प्रयोग इन्होंने अपने पुत्रों पर सन् 1897 में डरबन में किया था। अंग्रेजी माध्यम में शिक्षा देने के पक्ष में नहीं थे। अत: उन्होंने दक्षिण अफ्रीका या भारतवर्ष की शालाओं में भेजना उचित न समझा वे कहते हैं- 'जो शिक्षा सुव्यवस्थित घर में बच्चे अनायास पा जाते हैं, वह छात्रवास में नहीं पा सकते। स्वतन्त्रता और आत्मसम्मान का जो पाठ वहाँ सीखते हैं वह अन्यत्र प्राप्त नहीं। जहाँ स्वतन्त्रता और अक्षर ज्ञान में ही चुनाव करना हो वहाँ कौन कहेगा कि स्वतन्त्रता अक्षर ज्ञान से हजार गुना बढ़कर नहीं है' (मो. दा. करमचन्द गांधी, आत्मकथा, पृष्ठ 234)

दूसरा प्रयोग सन् 1904 में फीनिक्स बस्ती में किया गया था। जहाँ उन्होंने 'इंडियन ओपिनियन' समाचार पत्र के कर्मचारियों के बच्चों को अक्षर ज्ञान के साथ खेती तथा मुद्रण

सम्बन्धी व्यवहारिक ज्ञान प्रदान किया था। साथ ही, स्वच्छता, सामुदायिक कार्य, बागवानी आदि रचनात्मक कार्य पढ़ाई के साथ करने पड़ते थे। अध्यापन और दैनिक वार्तालाप मातृभाषा में ही होता था। (वही 234 पृष्ठ)

तीसरा प्रयोग ट्रांसवाल के 'टॉलस्टॉय फार्म' में सन् 1911 में आरम्भ किया। यहाँ लोगों ने परिवार के पिता रूप में गांधीजी को माना था, अत: गांधीजी को यहाँ के बालकों के शिक्षा की व्यवस्था करनी थी। आश्रम में नौकर नहीं थे। अतएव, शौचालय एवं साफ सफाई से लेकर रसोई बनाने तक के सब काम आश्रमवासियों को ही करने पड़ते थे। रोज सबको बाग में गड्डे खोदने, पेड़ काटने जैसे काम करने होते थे। इन कामों से उनके शरीर अच्छी तरह गठ जाते थे एवं आनन्द भी मिलता था। उन्हें कोई उपयोगी धन्धा सिखाने पर जोर था। अत: बच्चों को लकड़ी का काम तथा जूता बनाना भी सिखाया जाता था। यहाँ हिन्दी, तमिल, गुजराती, संस्कृत, उर्दू, अंग्रेजी, भूगोल पढ़ाई जाती थी। हिन्दी पढ़ना सबको अनिवार्य था। (आत्मकथा 385 पृष्ठ)।

गांधी जी शिक्षा की प्रक्रिया को आनन्ददायी बनाए जाने के हिमायती थे। अत: शिक्षा में शारीरिक दंड का कोई स्थान नहीं रखना चाहते थे। टॉल्स्टॉय की पुस्तक 'द किंगडम ऑफ गॉड इज विदिन यू' से 'वसुधैव कुटुम्बकम' की भावना इनमें जागृत हुई। बिना शारीरिक श्रम के शिक्षा मस्तिष्क का क्षय कर देती है, का भाव भी यही जागा। सनातन परम्परा से प्राप्त सत्य और अहिंसा के विचार को टॉल्स्टॉय आश्रम की धरती पर ही अपने ऊपर आजमाया। गांधी जी ने हृदय की शिक्षा या चरित्र के विकास को सर्वोच्च स्थान दिया।

सन् 1914 में भारत वापस लौट कर अहमदाबाद के निकट पहले कोचरब में आश्रम स्थापित कर फिर उसे साबरमती ले आए। जहाँ गांधीजी ने समाज शिक्षा के माध्यम से बच्चों में देश सेवा और राष्ट्र कल्याण की भावना जागृत करने का प्रयास शुरू किया। यहाँ जातिगत भेदभाव से मुक्ति एवं विविध कर्मों के प्रति लगाव, उपासना तथा राष्ट्रीय शिक्षा मुख्यत: संचालित था। फिर सन् 1917 में चम्पारण में नील के मजदूरों के साथ दूसरा प्रयोग था। यही 40 साल के शिक्षा सम्बन्धी उनके प्रयोग उनके शिक्षा दर्शन की नींव थी।

इनके शिक्षा सम्बन्धित विचारों पर जिन तीन व्यक्तियों का प्रभाव पड़ा था, उनमें पहले टॉल्स्टॉय जिनके बारे में ऊपर हमने पढ़ा। दूसरे, रामचन्द्र भाई यह दक्षिण अफ्रीका में एक व्यापारी थे और आत्मदर्शी भी, अध्यात्मिक संकट में गांधीजी इन्हीं का आश्रय लिया करते थे। तीसरे, रस्किन थे जिनकी पुस्तक 'अनटू दिस लास्ट, ने गांधी जी के सोए मन में विचारों की स्पष्ट प्रतिबिम्ब खींच दी। इन्हीं से इनको सर्वोदय के तीन मन्त्र मिले। पहला, सबके भले में अपना भला। दूसरा, सबके काम का मूल्य एक सा होना चाहिए। तीसरा, सादा मेहनत मशक्कत वाला किसान का जीवन ही सच्चा जीवन है।

टैगोर के शिक्षा सम्बन्धी चिन्तनों में तत्कालीन शिक्षा की दशा हमने देखी जिसमें एक विशिष्ट प्रकार की शिक्षा विशिष्ट लोगों के लिए विशिष्ट भाषा में थी। जिससे सामान्य एवं बहुतायत जन के विमुख होने के खतरे थे। इसी कारण गांधीजी के मन में व्यक्ति के आर्थिक जीवन को सुधारने के लिए शिक्षा से निकट के सम्बन्ध स्थापित करने की सूझी। इसके लिए गांधीजी ने किसी स्वदेशी एवं ग्रामीण उत्पादन के द्वारा आर्थिक जीवन सुधारने की सोची। ऐसा करने से कई उद्देश्य पूरे हो रहे थे। जैसे इससे व्यक्ति की शक्तियों का विकास करने के अवसर मिलते हैं। इससे जो वस्तु प्राप्त होगी उसके उपयोग से आर्थिक स्वतन्त्रता प्राप्त होगी। जो उनमें स्वतन्त्रता एवं अहिंसात्मक भावना उत्पन्न करेगा। अत: उन्होंने शिक्षा को किसी मूल्यों पर आधारित करने की सोची। इस मूल्ययोग से हाथ का प्रशिक्षण, मन और हृदय का भी प्रशिक्षण होता चलेगा। जो न केवल श्रम का सम्मान करना सिखाएगा, बल्कि ईमानदारी से जीविका की व्यवस्था करेगा। इसके साथ ही अर्थ के अभाव में शिक्षा के जो सार्वजनिकरण की कठिनाइयाँ हैं उसका भी किसी सीमा तक निराकरण हो सकेगा।

40 वर्ष के ऐसे ही उनके प्रयोग के आधार पर देश में शिक्षा की रूपरेखा के रूप में अक्टूबर, 1937 में वर्धा सम्मेलन में शिक्षाविदों के सम्मुख वर्धा योजना के नाम से रखा गया। जिसे बुनियादी शिक्षा अथवा बेसिक शिक्षा भी कहते हैं। बुनियादी शिक्षा आधारभूत न्यूनतम एवं अनिवार्य बेसिक शिक्षा की व्यवस्था से सम्बन्धित थी। इसका आधार बेसिक क्राफ्ट को मूलत: रखा गया था। शिक्षा का मूल उद्देश्य 3-H हैंड (ज्ञानेंद्रियाँ), हेड एवं हार्ट था। जिसमें ज्ञानेंद्रियों की शिक्षा से प्रारम्भ कर मस्तिष्क तथा हृदय को उन्नयन करना तथा छात्र को विद्यालय से समाज तथा ईश्वर (अध्यात्म) की ओर अग्रसर करना था। टैगोर भी अपने तरीके से यही कह गए।

बुनियादी शिक्षा के पाँच मूल सिद्धान्त हैं-

1. 7 से 14 साल तक के बच्चे और बच्चियों को निशुल्क अनिवार्य शिक्षा दी जाए।
2. शिक्षा को किसी हस्तकौशल, उत्पादन कार्य के माध्यम से दिया जाए। जिसे पाठशाला में दी जाने वाली सम्पूर्ण शिक्षा का केन्द्र बिन्दु माना जाए। हस्तकौशल का तात्पर्य हाथ से किए जाने वाले वैसे कौशलपूर्ण कार्य, जो लाभप्रद और सुन्दर हो।
3. स्वावलम्बन की शिक्षा के माध्यम से विद्यालय चलाने का बहुत कुछ खर्च हस्तकौशल द्वारा बनाए गए सामानों को बेचकर स्वयं ही छात्र निकाल सकते थे।
4. शिक्षा मातृभाषा द्वारा हो।
5. शिक्षा नागरिकों में वैयक्तिक महत्ता, गरिमा एवं दक्षता की भावना जागृत करें। जिससे उनमें स्वयं की उन्नति की इच्छा, श्रम का सम्मान करना, सामुदायिकता, समाज सेवा की भावना जागृत हो। साथ ही, वे अपने अधिकारों एवं कर्तव्यों को इसके माध्यम से

वह जाने। सहकारिता पूर्ण जीवन यापन करते हुए अन्तर्राष्ट्रीय शिक्षा के पुनर्निर्माण में सीधे व्यक्तिगत रूप से भाग ले सके।

डॉ. जाकिर हुसैन की अध्यक्षता में एक समिति द्वारा इसको कार्य रूप दिया गया। सन् 1938 में प्रान्तीय सरकार बनने पर इसका राष्ट्रीय स्तर पर प्रयोग किया गया। आजादी के बाद पूरे देश में कई बेसिक स्कूल खोले गए। कितना सफल रहा इसकी चर्चा फिर कभी करेंगे।

यह जरूर है कि यह शिक्षा गांधी जी के अन्त्योदय के विचार से सम्बन्धित थी। साथ ही, इसकी आन्तरिक संरचना में भेदभाव पूर्ण सामाजिक ताने-बाने को तोड़ना, प्रश्न खड़े करने की चेतना जागृत करना भी ध्येय था। नई तालीम में शिक्षा के माध्यम से कला के प्रति सौंदर्यबोध का भाव, समावेशीकरण, लोगों में सशक्तिकरण लाना भी मुख्य उद्देश्य था। गांधी जी का कथन था- 'शिक्षा से मेरा अभिप्राय है कि बच्चे और मनुष्य के शरीर, बुद्धि और आत्मा के सभी उत्तम गुणों को प्रकट किया जाए' (यंग इंडिया)। इसी रूप में मस्तिष्क और आत्मा का सर्वोच्च विकास सम्भव होगा। महात्मा बुद्ध के 'आत्म दीपो भव:' की भावना इसमें झलकती है। गांधी जी इस नई तालीम के माध्यम से विचार और क्रिया में एकत्व स्थापित करना चाहते थे। गांधीजी के इस एकत्व स्थापना में तत्वज्ञान और वस्तुजगत में मेल दिखा पड़ रहा है। जो अपनी-अपनी स्वतन्त्रता के साथ एक-दूसरे में अन्तर्गुम्फित है। जिसकी चर्चा उपनिषद् के सन्दर्भ में इस लेख के शुरुआत में हुई है, जो सनातनता है।

गांधीजी शिक्षा में सभी को सीखने के लिए इकोसिस्टम एवं लर्निंग ब्रिज बना रहे थे। गांधीजी द्वारा चरखा को अपनाने के पीछे के कारणों में महत्वपूर्ण कारण इसके लिए आवश्यक एकाग्रता का होना था। क्योंकि चरखा द्वारा सूत कातने समय एकाग्रता अतिआवश्यक है नहीं तो इच्छानुरुप सूत नहीं बन पाएगा। अत: चरखा एकाग्रता के अभ्यास के लिए जरूरी था। यही एकाग्रता की आवश्यकता जीवन के विविध सन्दर्भों में जरूरी होता है।

उनका मानना था जब तक हम भाषा को राष्ट्रीय और अपनी-अपनी प्रान्तीय भाषाओं को उनका योग्य स्थान नहीं देंगे तब तक स्वराज्य की सब बातें निरर्थक है। 'यंग इंडिया' एवं 'हरिजन' में भाषा सम्बन्धित उनके विचार एवं चिन्तन विषद रूप में प्रस्तुत हुए हैं। इन पत्रिकाओं से संकलित-सम्पादित लेख 'शिक्षा और संस्कृति' में उनके क्रान्तिकारी शिक्षा दर्शन का स्वरूप देखे- 'अहिंसक प्रतिरोध सबसे उद्दात और बढ़िया शिक्षा है। वह बच्चों को मिलने वाली साधारण अक्षर ज्ञान की शिक्षा के बाद नहीं, पहले होनी चाहिए। इससे इंकार नहीं किया जा सकता कि बच्चे को, वह वर्णमाला लिखे और सांसारिक ज्ञान प्राप्त करें। उसके पहले यह जानना चाहिए कि आत्मा क्या है, सत्य क्या है, प्रेम क्या है और आत्मा में

क्या-क्या शक्तियाँ छुपी हुई हैं। शिक्षा का जरूरी अंग यह होना चाहिए कि बालक जीवन संग्राम में प्रेम से घृणा को, सत्य से असत्य को और कष्ट सहन से हिंसा को आसानी के साथ जितना सीखें। इस सत्य का बल अनुभव करने के कारण ही मैंने सत्याग्रह-संग्राम के उत्तरार्ध में पहले टॉल्स्टॉय फार्म में और बाद में फिनिक्स आश्रम में बच्चों को इस ढंग की तालीम देने की भरसक कोशिश की थी।'

गांधी जी की विश्वदृष्टि उनके 'शिक्षा और संस्कृति' लेख के पंक्तियों में देख सकते है- 'मैं नहीं चाहता कि मेरे घर के चारों ओर दीवारें खड़ी कर दी जाए और मेरी खिड़कियाँ बन्द कर दी जाए। मैं चाहता हूँ कि सब देशों की संस्कृतियों की हवा मेरे घर के चारों ओर अधिक से अधिक स्वतन्त्रता के साथ बहती रहे। मगर मैं उनमें से किसी के झोंके में उड़ नहीं जाऊँगा। मैं चाहूँगा कि साहित्य में रुचि रखने वाले हमारे युवा स्त्री पुरुष जितना चाहे अँग्रेजी और संसार की दूसरी भाषाएँ सीखे और फिर उनसे यह आशा रखूँगा कि वह अपनी विद्वता का लाभ भारत और संसार को उसी तरह दे जैसे बोस, राय या स्वयं कविवर दे रहे हैं। लेकिन मैं यह नहीं चाहूँगा कि एक भी भारतवासी अपनी मातृभाषा को भूल जाएँ, उसकी उपेक्षा करें, उस पर शर्मिंदा हो या यह अनुभव करें कि वह अपनी खुद की देसी भाषा में विचार नहीं कर सकता या अपने उत्तम विचार प्रकट नहीं कर सकता। मेरा धर्म कैद खाने का धर्म नहीं है।'

भारतीय संस्कृति उन सभी संस्कृतियों के सामंजस्य की प्रतीक है जिनके हिन्दुस्तान में पैर जम गए हैं। यह सामंजस्य कुदरती तौर पर स्वदेशी ढंग का होगा, जिसमें प्रत्येक संस्कृति के लिए अपना उचित स्थान सुरक्षित होगा। वह अमेरिकी ढंग का सामंजस्य नहीं होगा, जिसमें एक 'मुख संस्कृति बाकी संस्कृतियों को हजम कर लेती है और जिसका लक्ष्य मेल की तरफ नहीं है बल्कि कृत्रिम और जबरदस्ती की एकता की ओर है।'

इस प्रकार गांधीजी के सम्बन्ध में काम और शिक्षा के सन्दर्भ में दो प्रकार का बुनियादी विमर्श उत्पन्न होता है। गांधीजी की शिक्षा सम्बन्धित परिकल्पना मात्र सैद्धान्तिक न होकर, न ही जटिल और पुस्तकीय है बल्कि हम सब के दैनंदिन जीवन व्यवहार से गम्भीर अर्थों से सम्बन्धित है।

ऐसी भ्रान्तियाँ है कि टैगोर गांधीजी के बुनियादी शिक्षा में जो काम की बात है उसके विरोधी थे। परन्तु ऐसा नहीं है, वे इसके मार्केट वैल्यू या चाइल्ड लेबर के रूप में प्रयोग के आलोचक थे। जहाँ यान्त्रिक रूप से बाह्यबलित नागरिक बनाने पर जोर होता है। जहाँ उनकी अपनी स्वेच्छा और स्वतन्त्रता की अनुमति नहीं होती। हालाँकि टैगोर के स्कूल में खुद बच्चों का स्वयं की अभिव्यक्ति के लिए क्राफ्ट, हैंड क्राफ्ट महत्वपूर्ण था। प्रकृति से जुड़ने के लिए कला, संगीत भी था, परन्तु यह विद्यालय के आर्थिक उपार्जन की व्यवस्था से न जुड़कर स्वयं की अभिव्यक्ति की बुनियाद से जुड़ी थी। इनका मानना था कि विद्यालय

जहाँ इसकी व्यवस्था हो कि बच्चे अपनी सृजनशीलता, सौंदर्य अनुभूति जैसी रुचियों को शान्त करने के लिए खूबसूरत वस्तुओं का निर्माण कच्चे पदार्थों से करें। यह स्वयं संस्थानों को यह सुझाव देते हैं कि प्रायोगिक, औद्योगिक प्रशिक्षण, सामुदायिक कार्य सम्बन्धित परियोजना में इन्हें संलग्न करना चाहिए। ताकि वे अपने आर्थिक, भौतिक, नैतिक, बौद्धिक, जीवन को समृद्ध कर सकें इसके साथ ही उन्हें प्रचुर सृजनात्मकता अवसर मुहैया कराने वाले शिक्षा पर भी ज्यादा जोर देते हैं। शिक्षा में फाइन आर्ट, संगीत, चित्रकला, नृत्य, ड्रामा वाले पाठक्रम को लागू करने की बात करते हैं।

एक यह भी भ्रान्ति है की गांधीजी उद्योग के विरोधी थे। अगर हम 'हिन्द स्वराज' की पंक्तियों को पढ़े तो यह स्पष्ट होगा कि अन्त्योदय के लिए विज्ञान, मशीन, तकनीक अगर मुश्किल या बेरोजगारी पैदा करती है तो उसे वे बेकार मानते है। इस अर्थ में वे बड़े उद्योग जहाँ बहुतायत आदमी के बदले एक ही मशीन काम कर दे तो ऐसी स्थिति में कई लोग बेरोजगार हो जायेंगें।

इस प्रकार टैगोर और गांधीजी की शिक्षा का स्वरुप मिलता-जुलता है। ऐक्य और विश्वदृष्टि स्थापित करने वाला है। टैगोर का शान्तिनिकेतन और गांधीजी के बुनियादी शिक्षा में मूल रूप से भारतीय अध्यात्मिक चिन्तन था। दोनों विद्वान के अभिरुचि में अन्तर था जो उनके लेखनों में झलकता है। टैगोर के यहाँ भाव की गाम्भिर्यता प्रबल है, कलात्मक मिजाज जो अपने अर्थपूर्ण जीवन के मूल को फुरसत में गढ़ते और धारण करते है। गांधीजी के प्रश्न मनुष्य जीवन के बुनियादी जीवन व्यवहार से जुड़ा है, जहाँ ऊर्जा दोहन के उपयोगी स्वरूप में मानवीय श्रम का मूल्य है। जिस पर भारत की बुनियाद कायम है। इसके आगे चलते है तो दोनों को साथ लेकर चलाना होगा। लेकिन बुनियादी शिक्षा का व्यवहारिक जोड़ इतना विश्व को आज प्रभावित कर रही है कि विश्व के देश अपने-अपने परिवेशगत सन्दर्भ में इसे उपयोगी बना रहे है।

सन्दर्भ

- किरण, चाँद , शिक्षा दार्शनिक परिप्रेक्ष्य, हिन्दी माध्यम कार्यान्वय निदेशालय, दिल्ली विश्वविद्यालय, दिल्ली, संस्करण-2006
- कुद्यावया, न, व. संक., भट्ट, बुद्धिप्रसाद अनु., लेव तोल्स्तोय शिक्षाशास्त्रीय रचनाएं, प्रगति प्रकाशन, मास्को 1987
- टैगोर, रबीन्द्रनाथ, गीतांजलि
- नरवणे, विश्वनाथ अनुवादक, रबीन्द्रनाथ के निबंध भाग-1, साहित्य अकादेमी, नई दिल्ली, संस्करण-1964
- प्रायोगिक शिक्षा नाई तालीम हैंडबुक, महात्मा गांधी राष्ट्रीय ग्रामीण परिषद, हैदराबाद
- मो. क. गांधी, आत्मकथा, सस्ता साहित्य मंडल, दिल्ली, 1960

- वर्मा, ताराचंद सं., गांधी शताब्दी स्मारक ग्रन्थ, चिन्मय प्रकाशन, जयपुर संस्करण-1969
- शर्मा, रामस्वरूप संकलित, सनातनधर्म-शिक्षा, मुरादाबाद संस्करण-1925
- सहगल, मनमोहन, शिक्षा-दर्शन, दिल्ली पुस्तक सदन, नई दिल्ली, संस्करण-1958
- सिन्हा, हरेन्द्र प्रसाद, भारतीय दर्शन की रुपरेखा, मोलीलाल बनारसीदास, दिल्ली संस्करण-1993
- charaya, poromesh, Educational Ideals of Tagore and Gandhi, Economical and Political weekly, March22, 1997, p 601&606
- Salamatullah, Tagor as Educationist, Indian Literature: vol-4, 1961, p-133&139

सम्पर्क: सच्चिदानंद सिंह

शिक्षक, एस. एल. पी. सी. उ. वि., छपरा, सारन, बिहार

रबीन्द्रनाथ टैगोर की कविताएँ

जहाँ चित्त भय शून्य

जहाँ चित्त भय शून्य, जहाँ सिर उन्नत
ज्ञान मुक्त; प्राचीर गृहों के, अक्षत
वसुधा का जहाँ न करके खण्ड-विभाजन
दिन-रात बनाते छोटे-छोटे आँगन;
प्रति हृदय-उत्स से वाक्य उच्छ्वसित होते
हों जहाँ कि अजस्त्र कर्म के सोते
अव्याहत दिशा-दिशा, देश-देश बहते
चरितार्थ सहस्त्रों-विध होते रहते;
धारापथ को न विचारों के, ग्रस लेती हो-
जहाँ तुच्छ आचारों की मरु-रेती;
शतधा न जहाँ पुरुषार्थ; जहाँ पर सतत्
सब कर्म भाव आनन्द, तुम्हारे अनुगत;
हे पिता, उसी स्वर्लोक में करो जाग्रत,
निज-कर निर्दय ठोकर देकर, यह भारत!

निर्झर का स्वप्न-भंग

आज के इस प्रभात-काल में सूर्य की किरणें
प्राणों के भीतर कैसे प्रवेश कर गयीं?
गुहा के अन्धकार में प्रभात-पक्षी का गान कैसे समा गया?
न जाने, इतने दिनों बाद प्राण क्यों कर जाग उठे है?

प्राण जाग उठे है,
अरे, पानी उछल कर उमड़ पड़ा है।
अरे! प्राणों की वेदना, प्राणों के आवेग को रोक रखना सम्भव नहीं अब।

पहाड़ थर-थर काँप रहे है,
राशि-राशि शिलाएँ टूटकर गिर रही है।
फेनिल जल फूल-फूलकर दारुण रोष में गरज उठता है।

प्रमत्त जल पागल के समान घूमकर
इधर उधर चक्कर खाता है;
बाहर निकलना चाहता है पर, देख नहीं पाता, कारा का द्वार कहा है?
क्यों रे विधाता! यह पाषाण क्यों?
चारों और पत्थरों का यह बन्धन कैसा,
हृदय! तोड़ो इस बन्धन को तोड़ो,
आज प्राणों के साधन का उपयोग करो।
लहरों पर लहरें उठाकर
आघातों पर आघात करो।
जब प्राण प्रमत्त हो उठे हों,
तक किसका अँधेरा और किसका पाषाण?
जब वासना उमड़ पड़ी हो,
तब जगत् में भय किसका?

मैं करुणा की धारा ढालूँगा,
मैं पाषाण-कारा को तोड़ डालूँगा।
मैं संसार को प्लावन में डूबोकर
व्याकुल पागल के समान नृत्य करूँगा।

मैं कुन्तल खोलकर, कुसुम बटोरकर
इन्द्र-धनु-अंकित पंखों पर उड़ता हुआ
सूर्य की किरणों में हँसी बिखेरूँगा,
सर्वत्र प्राणों का संचार करूँगा।

मैं शिखर-शिखर पर दौड़ लगाऊँगा,
पर्वत-पर्वत पर लौट जाऊँगा,
ठठाकर हसूँगा, कल-कल स्वरों में गाऊँगा गान
प्रत्येक ताल पर ताली बजाऊँगा।

मेरे पास इतनी कथाएँ हैं, इतने गान है, इतने प्राण है,
इतने सुख है, इतनी साधें हैं कि प्राण विभोर हो उठे है।

न जाने, आज क्या हुआ कि जाग उठे हैं प्राण
मानो, कानों में पड़ा हो दूरस्थ महासागर का गान

अरे, मेरे चारों ओर
यह कठिन कारागार क्या है?
तोड़ो तोड़ो, इस कारा को भंग करो
आघातों पर आघात देते चलो।
अरे, आज पक्षी ने कौन-सा गाना गाया है?
सूर्य की किरणें आयी हूई है।

मेह बरसता टापर-टुपुर

बुझा उजाला दिन का, सूरज
अब डूबा तब डूबा।
घिरा चाँद-लोभी मेघों से
आसमान का सूबा।
बादल पर बादल रंगों पर
रंग चढ़ाकर सज उठे,
मन्दिर में काँसे के घण्टे
ठन-ठनाठन बज उठे।
झड़ी लगी उस पार, झाड़-
झुरमुट धुँधले-धुँधले हुए।
सौ-सौ रतन मेघ के सिर पर
है इस पार बले हुए।
जलब्यारी में मन जाता है
बचपन के इस गान पर :
मेंह बरसता टापर-टुपुर
नदिया का पूर उठान पर!

सारे आसमान में खेलें
मेघ, न सीमा है कहीं।
देश-देश खेलते डोलते,
कोई मना करे नहीं।
कितने नये फूल-वन इनसे
पाते हैं जल-दान मधुर!
नये-नये खेलों को पल-पल
सोच निकाले ये चतुर!
खेल देख मेघों के, कितने
खेल उमड़ते याद में -
दुबकी कितनी लुका-छिपी
कितने कोनों की माँद में!

और उन्हीं के संग मन जाता
बचपन के इस गान पर :
मेंह बरसता टापर-टुपुर,
नदिया का पूर उठान पर!

आती याद हँसी माँ की,
घर भर उजियाली छा जाती;
आती याद मेघ गर्जन से
थर-थर कँप उठती छाती।
माँ के ही बिस्तर के कोने
में लल्ला सोया होता;
माँ पर उसके उत्पातों का
लेखा-जोखा क्या होता!
घर में उत्पाती बालक की
धमा-चौकड़ी और ऊधम,
बहर मेघ गरज उठते,
कँप उठती सारी सृष्टी सहम।
मन जाता माँ के मुँह से
सुने हुए इस गान पर :
मेंह बरसता टापर-टुपुर,
नदिया का पूर उठान पर!

आती याद सुहागो रानी और
दुहागो - रानी की
आती याद कहानी कंकावती
सती अभिमानी की;
आती याद दिये की टिमटिम
लौ की मोहन-माय की;
एक ओर की भीत पर पड़ी
काली-काली छाया की।
बाहर शब्द एकरस केवल
वर्षाजल कर झुप-झुप-झुप्प्।

हुआ कहानी सुनकर माँ की
नटखट लड़का बिल्कुल चुप्।
चुप-चुप उसका मन जाता है
बादल दिन के गान पर :
मेंह बरसता टापर-टुपुर,
नदिया का पूर उठान पर!

कब बरसा था मेंह,
कहाँ नदिया में आया पूर था!
शिवजी का कब ब्याह हुआ,
यह सब किस युग की है कथा!
उस दिन भी क्या इसी तरह
घनघोर घटा-आटोप था?
उस दिन भी क्या ठनका-बिजली
का ऐसा ही कोप था
आखिर फिर क्या हुआ भला
तीनों कन्याएँ ब्याह कर?
पता नहीं किस देश, न जाने
किस नदिया के तीर पर
किस लड़के की निंदिया आती
किस माँ के इस गान पर :
मेंह बरसता टापर-टुपुर,
नदिया का पूर उठान पर!

प्रेमपगी राधा, अनुत्तरित ईश्वरः टैगोर की भानुसिंघेर पदावली

–ललित कुमार

भानुसिंह की अपूर्व कथा

रबीन्द्रनाथ टैगोर (1861-1941) की भानुसिंघेर पदावली (भानुसिंह के छंद), प्रेमगीत संग्रह के प्रकाशन के पीछे की कहानी उतनी ही मनोहर है जितनी कि स्वयं कविताएँ । वर्ष 1877 में, कलकत्ता से निकलने वाली 'भारती' पत्रिका ने, प्रकाश में आए एक नए वैष्णव कवि भानुसिंह रचित राधा और कृष्ण पर कविताओं की श्रृंखला (सभी बाईस) को प्रकाशित करना शुरू किया। इस रहस्यमय कवि की पहचान कई वर्षों तक एक रहस्य बनी रही। आखिरकार, सच्चाई सामने आ गई, और पूर्ववर्ती कवि रबीन्द्रनाथ टैगोर का भानुसिंह एक छद्म नाम बन गया । टैगोर को उनकी भाभी कादम्बरी देवी के द्वारा भानु अर्थात् सूर्य नाम दिया गया था, जो तेईस वर्ष की आयु में आत्महत्या करने तक टैगोर की कवित्व-शक्ति बनी रहीं।[2] इस प्रकार, भानुसिंह नाम के रहस्य ने सार्वजनिक रूप से पाठकों और आलोचकों की जिज्ञासा को दूर किया, किन्तु यह रहस्य टैगोर परिवार के भीतर पहले ही खुला हुआ था ।

1. उद्धरण में दो कविताएँ टैगोर की भानुसिंघेर पदावली, कविता संख्या क्रमशः एक और उन्नीस के अंश हैं। देवनागरी में इन दो पूर्ण कविताओं के लिप्यन्तरण के लिए, टैगोर रचनावली, कविता भाग-1 देखें ।

2. वर्ष 1884 में, अज्ञात कवि ने, टैगोर की प्रामाणिकता और ऐतिहासिकता को सुदृढ़ करने के लिए 'नवजीवन' पत्रिका में भानुसिंह की एक काल्पनिक जीवनी लिखी।

3. जीवनीकार ने चौदहवीं शताब्दी के मैथिली कवि विद्यापति और भानुसिंह के काव्य शिल्प में समानता पर टिप्पणी की, बहुतों ने कहा कि उनकी कविता विद्यापति के बाद एक विधान के रूप में लिखी गई है, किन्तु यह केवल हास्य का विषय रहा। किसी ने भी यह जानने की कोशिश नहीं की कि क्या उसकी विद्यापति के साथ वाकई कोई समानता है या नहीं।

4. चूँकि विनोदप्रियता और विडम्बना लघु जीवनी की विशेषता है, टैगोर ने अपने पाठकों को यह विश्वास दिलाने के लिए प्रेरित किया कि वह शाब्दिक रूप से इसके विपरीत है। ऐसा प्रतीत होता है कि एक ओर, वे विद्यापति की कविता और अपने स्वयं के शिल्प के बीच समानता का संकेत देना चाहते थे, तथा दूसरी ओर, उनकी इच्छा समकालीन बुद्धिजीवियों द्वारा व्यापक रूप से जाँच और अनुमान लगाए जाने के लिए लेखक के प्रश्न को वांछित किए जाने की थी।

हालाँकि, वर्षों बाद, इक्यावन वर्षीय टैगोर अपनी आत्मकथा 'जीबनस्मृति' के 'भानु सिंह' नामक अध्याय में इस प्रकरण के बारे में याद दिलाते हैं। एक दिन युवा टैगोर ने ब्रिटिश कवि चौटरटन[5] से प्रेरित होकर एक मित्र से संपर्क किया तथा यह नाटक किया कि उन्होंने ब्रह्म समाज लाइब्रेरी से भानु सिंह नाम के प्राचीन कवि की जीर्ण-क्षीर्ण पांडुलिपि खोज ली है। मित्र ने छन्द की बहुत ही प्रशंसा की और कहा कि कविताएँ विद्यापति[6] या चंडीदास द्वारा रचित किसी भी कविता से बेहतर हैं। उल्लासित टैगोर सच्चाई को और अधिक छिपा न सके और कहा कि ये कविताएँ वास्तव में उनकी अपनी रचनाएँ थी। मित्र ने तुरन्त टैगोर के उत्साह को बन्द करते हुए कहा कि यह बहुत ही अच्छा है।[7] इस मजाक को करने से पहले, टैगोर ने अक्षय चंद्र सरकार और शारदाचरण मित्र द्वारा संकलित 'प्राचीन काव्यसंघर्ष' नामक पुरानी वैष्णव कविताओं के संग्रह को पढ़ने का प्रयास किया था। इन कविताओं की भाषा मैथिली और बंगाली का मिश्रित रूप था, जिसे समझने में उन्हें कठिनाई का सामना करना पड़ा, उन्होंने आगे भी इसी तरह शैली में कविता लिखने की शुरुआत की। इसके परिणामस्वरूप उन्होंने बदराई शाम पर लिखते हुए, 'गहन कुसुम कुंज माझ' (घने फूलों वाले जंगल में) की रचना की। इस रचना ने उन्हें बेहद खुश कर दिया और यहीं से ब्रजबुलि (ब्रजभाषा से अलग) में लिखी गई भानुसिंघेर पदावली की आगे की कविताओं की नींव पड़ गई। सिसिर कुमार कुमार दास लिखते हैं, 'पूर्वी भारत के वैष्णव कवियों द्वारा भगवान् कृष्ण की लीलाओं (अलौकिक केलि) को प्रकट करने के लिए मैथिली और असमिया/बंगाली/उड़िया का मिश्रित रूप, ब्रजबुलि का उपयोग किया गया जोकि बहुभाषिकता की स्थिति में भारतीय साहित्य का विकास समझने के लिए अत्यन्त महत्वपूर्ण है।[9] टैगोर की पदावली में मध्यकालीन बंगाली वैष्णव कवियों और विशेष रूप से मिथिला के विद्यापति की महीन प्रतिरूपता है।

2 टैगोर की काव्यशक्ति के रूप में कादम्बरी देवी की भूमिका के बारे में, मालाश्री लाल ने लिखा है, जिस पर अन्तहीन अनुमान लगाया गया है। वह आगे कहती है कि युवा रबीन्द्र के लिए, कादम्बरी एक गुप्त प्रेम था जिसका दैवीकरण उन्होंने कविता या चित्र के रूप में किया। ('टैगोर एंड द फेमिनिन', परिचय, xxi देखें।)

3 जीवनी के अंग्रेजी अनुवाद के लिए द लाइफ ऑफ भानुसिंह टैगोर 'में परिशिष्ट द लवर्स ऑफ गॉड रबीन्द्रनाथ टैगोर, 113-20 देखें।

4 वही, 120

5 थॉमस चौटरटन (1752-1770) अंग्रेजी के एक प्रसिद्ध कवि थे, इन्होंने पन्द्रहवीं शताब्दी के एक काल्पनिक कवि थॉमस रोवले के रूप में अपना कार्य किया। टैगोर का इरादा एक दूसरे चौटरटन बनने का ही था।

6 जॉर्ज अब्राहम ग्रियर्सन ने दावा किया था कि विद्यापति पुराने वैष्णव सिद्ध गायकों में से एक थे, जो लोगों की भाषा मैथिली में बोलते और लिखते थे। क्रेस्टोमैथी, 84 देखें।

7 टैगोर की आत्मकथा जीवनस्मृति के शुरुआती अंग्रेजी अनुवाद के लिए माय रेमिन्संस देखें। अधिक हालिया अनुवाद के लिए, द पिक्चर ऑफ माई अर्ली लाइफ देखें। भानु सिंह के अध्याय के लिए क्रमशः 135-38 और 92-94 देखें। टैगोर ने इस खण्ड में यह भी दावा किया कि जब भानु सिंह के गीत भारती पत्रिका में प्रकाशित हो रहे थे, तब एक निशिकान्त चट्टोपाध्याय ने भारत की पारम्परिक गीत कविता की तुलना यूरोप के साथ करके उन पर अपना डॉक्टरेट भी प्राप्त किया। रेमिन्संस, 137. हालाँकि, उस समय के आस-पास सभी प्रमुख जर्मन विश्वविद्यालयों में प्रस्तुत इस तरह की थीसिस का पता लगाने के प्रयास निष्फल रहे। द लवर ऑफ गॉड, 106 देखें।

8 रोजिंका चौधरी ने इन कविताओं की भाषा को 'मैथिली बोली (पूर्वी भारत में प्रचलित पुरानी हिंदी और बंगाली का मिश्रण) कहा है। ऐसा प्रतीत होता है कि किसी भाषा की बोली के रूप में गलत व्याख्या का मामला है, क्योंकि मैथिली के लिए न तो कोई बोली थी, न ही कोई बोली पुरानी हिन्दी और बंगाली का मिश्रण थी। विडम्बना यह है कि टैगोर जिस भाषा से प्रभावित थे, उन्हें मैथिली को बोली मानने के मिथक को दूर करने के लिए हिन्दी और बंगाली के साथ संघर्ष करना पड़ा था। चौधरी के द्वारा की गई भानुसिंघेर पदावली की चर्चा के लिए 'द रसेल ऑफ लैंग्वेज' देखें।

9 ए हिस्ट्री ऑफ इंडियन लिटरेचर, सिसिर कुमार दास, 1800-1910 देखें। दास का तर्क है कि भाषाओं का संकरण या मिश्रण भारत में न केवल रोजमर्रा की भाषाई गतिविधि की एक अनिवार्य विशेषता है, यह भारतीय साहित्यिक गतिविधि की एक दिलचस्प विशेषता भी है। देखें 346

10 बंगाल में विद्यापति की नकल करने वालों पर ग्रियर्सन के विश्लेषण और उनकी 'वर्णसंकर भाषा' के लिए क्रेस्टोमैथी 34-36 देखें।

ब्रजबुलि ही क्यों, बंगाली क्यों नहीं? बंगाल के छद्म-विद्यापति और 'वर्णसंकर भाषा'

सन 1881 में, जॉर्ज अब्राहम ग्रियर्सन ने मैथिली भाषा का पहला व्याकरण और क्रेस्टोमैथी की रचना की थी, जहाँ उन्होंने राधा और कृष्ण पर विद्यापति के गीतों सहित लगभग संपूर्ण मैथिली साहित्य का संकलन किया था। वैष्णव कवि चैतन्य एवं अन्य कवियों के माध्यम से ग्रियर्सन ने इन गीतों को लिखा, ये गीत बंगाली परिवारों में उतने ही लोकप्रिय हुए जितनी इंग्लैंड में बाइबिल लोकप्रिय हैं। लेकिन इस लोकप्रियता ने एक विचित्र समस्या को जन्म दिया जिसके लिए एक विचित्र समाधान भी तुरन्त मिल गया। एक आम बंगाली पाठक के लिए, विद्यापति को समझना कठिन था। इसलिए उनके भजन में विकार उत्पन्न कर उन्हें एक प्रकार की वर्णसंकर भाषा में परिवर्तित किया गया, जोकि न तो बंगाली थी और न ही मैथिली थी। 10 इसके अलावा, विद्यापति की नकल करने वाले समूह ने मोर्चा संभाला, जिन्होंने इस नई आविष्कृत भाषा में गीत तैयार किए। उनकी रचनाओं में मूल कवि की अभिव्यक्ति जैसे लालित्य तथा विलक्षणता का अभाव था। फिर भी, ये गीत पुरानी बंगाली से अधिक अविभेद्य बन गए, और विद्यापति की मूल कविताओं की तुलना में बंगाल में स्वाभाविक रूप से अधिक लोकप्रिय हो गए। परिणामस्वरूप, मैथिली कवि के गीतों को बंगाल के लोगों की स्मृति से धीरे-धीरे मिटा दिया गया।

विद्यापति के नाम से निर्मित इन सहज गीतों को व्यापक रूप से संकलित एवं परिचालित किया गया। ऐसा ही एक संकलन 'प्राचीन काव्यसंग्रह' था, जिसने युवा टैगोर को भानुसिंघेर पदावली की रचना करने के लिए प्रेरित किया था। टैगोर ने अपनी आत्मकथा में बाद में यह स्वीकार किया कि प्राचीन कविता के इस संग्रह में मैथिली के साथ बंगाली का फैलाव उनकी समझ से परे था। 11 उसी वर्ष, इस कार्य में उनके सह-संपादक रहे शारदाचरण मित्रा ने विद्यापति पदावली का निर्माण किया, जिसे ग्रियर्सन ने वास्तविक विद्यापति पर हुए कार्य के रूप में स्वीकार करने से इंकार कर दिया। टैगोर को असली विद्यापति बनाम छद्म विद्यापति के विवाद के बारे में पता था या नहीं अथवा पूर्व के गीतों ने टैगोर की राधा को किस सीमा तक प्रेरित किया, यह आगे विमर्श एवं शोध का प्रश्न हो सकता है। हालाँकि, ग्रियर्सन के विवादास्पद विषय के विश्लेषण से हमें उन्नीसवीं शताब्दी में बंगाल और उसके कवियों पर विद्यापति के प्रभाव को समझने में मदद मिलती है।

प्रारम्भिक भारतीय साहित्य में राधा की व्युत्पत्ति

भगवत पुराण, भारतीय ग्रन्थों में पहला ग्रन्थ है, जिसमें कृष्ण को एक मानवीय ईश्वर, एक बालक, एक ग्वाला लड़का, एक कुशल बांसुरी वादक और सबसे बढ़कर, एक रसिक प्रेमी के रूप में माना गया है। इस पुराण की दसवीं पुस्तक विशेष रूप से कृष्ण के जन्म, उनके प्रारम्भिक वीरतापूर्ण पराक्रम, और उनकी रासलीला या गोपियों, वृन्दावन की ग्वालनों के साथ प्रसिद्ध नृत्य को समर्पित है। हालाँकि, उत्तर भारत में यह पुस्तक

अपने दिव्य एवं सांसारिक, धार्मिक और शृंगारिकता पर समान रूप से जोर देते हुए वैष्णव आन्दोलन का मूल पाठ बन गई है, लेकिन वृन्दावन की गोपियों के बीच राधा के नाम का उल्लेख नहीं किया गया है। 12 'गीत गोविन्द' में राधा के उद्भव का पता लगाते हुए, सिसिर कुमार दास लिखते हैं कि जयदेव की सबसे बड़ी उपलब्धि राधा की निर्मित्ति है, जो भारतीय प्रेम कविता में एक केन्द्रीय आकृति बन गई, बल्कि सही मायने में, शाश्वत प्रेम का प्रतीक बन गई। 13 सभी संभावना में, राधा का चरित्र ग्वालों के लोक गीतों में एक भ्रूण अवस्था में विद्यमान था, लेकिन जयदेव ने अपने संस्कृत महाकाव्य में धार्मिक साहित्य की राधा और लोक साहित्य की राधा को एक कर दिया। 14 जयदेव के यहाँ, 'राधा न तो पत्नी हैं और न ही एक ग्रामीण सखी है। वह गहन, एकान्तिक, गौरवशाली महिला हैं जो कृष्ण की लगन को समझती हैं और उन्हें प्रभावित करती हैं। 15 कविता एक-दूसरे के प्रति प्रेमियों की लालसा, उनके विरह एवं मिलन को दर्शाती है। बाद के वैष्णव कवियों, विशेष रूप से, मिथिला के विद्यापति, बंगाल के चंडीदास और टैगोर के छद्म नाम भानुसिंह ने राधा के चरित्र में नए आयाम जोड़े हैं तथा एक ऐतिहासिक प्रेमपगी स्त्री के रूप में उनकी निर्मित्ति की है।

11 द पिक्चर ऑफ माई अर्ली लाइफ (जीवन-स्मृति), 92।

12 हालाँकि भगवत पुराण में राधा का कोई प्रत्यक्ष उल्लेख नहीं है, लेकिन इस ग्रन्थ की दसवीं पुस्तक में एक ग्वाल सहकर्मी का उल्लेख है, जो कृष्ण की पक्षधर और अभीष्ट है। भारतीय साहित्य का इतिहास 500-1399, 186 देखें।

13 वही।

14 बारबरा स्टोलर मिलर ने गीतगोविन्द के अपने अनुवाद के परिचय में, यह तर्क दिया है कि राधा प्रारम्भिक भारतीय साहित्य में सबसे अव्यक्त आकृति में से एक है। जयदेव के द्वारा उन्हें अपनी कविता की नायिका बनाने से पूर्व, वह केवल पुराणों के माध्यम से बिखरे हुए कुछ छन्दों, संस्कृत और प्राकृत काव्य, व्याकरण, नाटक और कुछ शिलालेखों में दिखाई देती हैं। गीतगोविन्द, जयदेव देखें। लव सोंग ऑफ द डार्क लॉर्ड, 26 देखें।

भानुसिंघेर पदावली पर टिप्पणी: प्रेम-विरह

संभोग (प्रेम-मिलन), विप्रलम्भ (प्रेम-विरह), और प्रणिधान (भगवान के प्रति पूर्ण समर्पण) भानुसिंह पदावली के विषय हैं। विरह, वियोग की पीड़ा, वैष्णव कविता के साथ-साथ टैगोर के यहाँ भी प्रमुख विधान है। इन कविताओं में, युवा टैगोर राधा के अनुभवी विश्वासपात्र भानु को बुलाता है, जो शोकाकुल राधा को सांत्वना देने का प्रयास करता है। राधा और भानु के बीच संवाद के रूप में कविताओं की रचना की गई है, जबकि कृष्ण अधिकांश राधा के साथ अपनी थोड़े समय के लिए हुई गुप्त भेंट को छोड़कर दीर्घकालीन अनुपस्थिति के माध्यम से अपनी उपस्थिति दर्ज कराते हैं।

प्रेयसी के उपालम्भ : 'I will poison myself'

पदावली की पहली कविता वसंत ऋतु में मधुकर/मधुप (भंवरा) की गुनगुनाहट और फूलों के खिलने की पृष्ठभूमि में स्थापित की गई है। कृष्ण की अनुपस्थिति में राधा का दिल अधीर हो उठता है, संपूर्ण ब्रह्मांड उसका उपहास उड़ा रहा है, और कह रहा है— हे प्रेमपगी राधा, तुम्हारा प्रिय माधव कहाँ है?'

काव्य व्यक्तित्व भानु राधा को विरह की पीड़ा से आगाह करते हुए समझाता है कि विरह उसकी प्रतीक्षा में है, भानु समझाता है अपनी मासूमियत, पागल लड़की/जब तक आपके लिए दु:ख आता है, तब तक उसके लिए अन्तिम प्रतीक्षा करें / '(कविता 1, पृष्ठ 1, भगवान का प्रेमी) 16। जैसे-जैसे विरह की कथा आगे बढ़ती है, उसकी पीड़ा बढ़ती जाती है, मैं एक बार नवोदित और खिल रहा हूँ/और मर रहा हूँ, भी। 'उसके प्रेमी की लम्बे समय तक अनुपस्थिति और अन्तहीन दर्द उसकी इच्छा मृत्यु की कामना करते हैं, वह मुझे छोड़ देगा। अगर वह मुझे छोड़ देता है, तो मैं खुद को जहर दूंगा '(कविता 3, पृष्ठ 23)। आत्म-विनाशकारी लालसा क्रोध को ढहा देती है तथा अनुपस्थित प्रेमी के प्रति विरोध प्रदर्शित करती है, जोकि राजनीतिक अनिवार्यता के चलते मथुरा चला गया है। क्रोध से यौन ईर्ष्या उत्पन्न होती है :

15 वही।

16 टैगोर के गीतों पर टिप्पणी खण्ड के लिए, यदि अन्यथा उल्लेख नहीं किया गया है, तो मैंने भानुसिंघेर पदावली के टोनी के स्टीवर्ट और चेस ट्विचेल के अनुवाद का उपयोग किया है, जिसका शीर्षक द लवर्स ऑफ गॉड रबीन्द्रनाथ टैगोर है। पुस्तक में बंगाली लिपि में उनके मूल के साथ-साथ अंग्रेजी अनुवाद में पदावली की सभी बाईस कविताएँ शामिल हैं।

तुम क्रूर हो, एकाकी अन्धकार के स्वामी हो,
मथुरा में इतनी दूर।
किसके बिस्तर में सोते हो?
कौन जागने पर आपकी प्यास बुझाता है? (कविता 4, पृष्ठ 27)

पुनर्मिलन: तुम्हारा मुख मेरी पीड़ा को कम करता है

अन्त में विरह एवं अत्यन्त उत्कंठा के बाद पुनर्मिलन होता है और राधा का विदारक हृदय अपने प्रियतम को देखकर तुरन्त आराम पा जाता है, तुम्हारा मुख मेरी पीड़ा को कम करता है' (कविता 6, पृष्ठ 33)। विरह की पीड़ा का स्थान श्रृंगार ले लेता है, और राधा के कृष्ण, प्रियतम और उसके ईश्वर के साथ बहुप्रतीक्षित पुनर्मिलन को व्यक्त करने के लिए श्रृंगार रस एक प्रमुख रूपक बन जाता है। काव्यात्मक व्यक्तित्व भानु पाठकों की अनुमति चाहता है कि वह कुछ समय के लिए अपने शील को स्थगित कर उनके प्रेम संभोग को देख सकें :

यदि टैगोर के यहाँ वसन्त विरह का एक रूपक है, तो वर्षा पुनर्मिलन का एक प्रतीक है जो निरन्तर वर्षा एवं मेघ गर्जन के बीच रात्रि में संपन्न होता है। उत्कंठा एवं प्रेमप्रवणता का स्थान देखभाल एवं स्नेह ले लेता है, और यह राधा है जो प्रेम की पटकथा को लिखते समय पूर्ण नियन्त्रण में प्रतीत होती है:

आओ, तुम भीग गए हो, माधव,

फिर से भीग गया ...

अपने कपड़े उतारो। मुझे तुम सूखने दो। मैं अपने बालों को खोल दूंगा।

कमल की डाली के बीच मेरे साथ आओ,

त्वचा ठंडी और रोमांचित। (कविता 14, पृष्ठ 57)

सोलहवीं शताब्दी के वैष्णव कवि एवं चैतन्य के समकालीन रूप गोस्वामी ने श्रृंगारिकता के महत्व को रेखांकित करते हुए, 'भक्ति रस' (भक्तों की भावनाओं) को मुख्य रूप से पाँच प्रकारों में बाँटा है: प्रेयस (मित्रता), वात्सल्य (माता-पिता का प्रेम), प्रीत (वफादारी), सन्त (शान्त) और मधुर (शृंगारिक)। 17 हालाँकि ये सभी, कृष्ण के पास जाने का साधन प्रदान करते हैं, श्रृंगारिकता, प्रेम के पदानुक्रम के शीर्ष पर स्थान बनाए है जिसमें अन्य सभी समाहित हैं। यह एक अद्वितीय अनुराग से प्रेरित है, तथा अपने आप में पूर्ण है, जोकि कृष्ण को सबसे अधिक संतुष्ट करती है।

17 रूप गोस्वामी की कृति उज्जवल नीलमणि पर चर्चा के लिए, बंगाल में वैष्णव आस्था एवं आन्दोलन का प्रारम्भिक इतिहास 126-170 देखें।

18 लवर ऑफ गॉड, 103 देखें।

श्रृंगार रस से करुण रस तक: 'जब मथुरा से निर्दयतापूर्वक माधव निकलते हैं'

पुनर्मिलन और वियोग राधा के व्यक्तित्व को भी प्रभावित करते हैं, साथ ही टैगोर की राधा की यह भावुकता, प्रेमियों की पहचान है। वह लगातार क्रोध एवं स्नेह, उपलाम्भों और क्षमा तथा याचिका एवं आवेग के बीच दोलन करती है। उनका स्वर दोषारोपण से अनुनय-विनय में तब्दील होता रहता है, और जब माधव अन्ततः मथुरा जाने का निर्णय लेते हैं, तो श्रृंगार की जगह करुण रस ले लेता है।

मलिनचित राधा अपने स्वामी के प्रस्थान से पूर्व दयनीय ढंग से प्रार्थना करती है, ठहरो, श्याम, मेरे प्यार श्याम, मेरे साथ रहो / रहो। मेरा कोई दोस्त नहीं है लेकिन आप हो / कोई प्यार नहीं है, माधव। कोई नहीं लेकिन आप हो '(कविता 16, पृष्ठ 61)। उसका रुदन व्यर्थ जाता है, यद्यपि उसका प्रियतम द्रवित नहीं होता है, काव्य व्यक्तित्व भानु द्रवित हो जाता है, और राधा के निर्वासित आत्म के साथ सहानुभूति रखता है, 'राधा के लिए रोते हुए, मैं कहता हूं कि जीवन दर्द है / अगर कोई प्यार नहीं था, तो कोई भी नहीं होगा। दुःख

'(63)। वह इस तथ्य से भी परिचित है कि श्याम केवल उसी के इच्छित नहीं हैं, बल्कि सैकड़ों राधाएँ हैं जो उसके साथ के लिए लालायित हैं।

जैसे ही कृष्ण चले जाते हैं, पत्ते, बादल और अन्धेरा, जो पूर्व में उनके प्रेम-संभोग के साक्षी थे, वे मृत्यु के रूपक बन जाते हैं। पूर्ण रूप से छिन्न-भिन्न राधा, मृत्यु को प्रेम के विकल्प के रूप में मानती है। मरण (मृत्यु) शीर्षक वाली कविता में, परित्यक्त राधा अपना दु:ख प्रकट करती है, एन मारन पुन:, तुहुँ मम श्याम समन '(हे मृत्यु, तुम मेरे श्याम के समान हो, अनुवाद मेरा)। मृत्यु के माध्यम से मुक्ति प्राप्त करने की इच्छा वैष्णव कविता में आवर्ती विधान के रूप में नहीं है। फिर भी यह न केवल भानुसिंघेर पदावली, बल्कि गीतांजलि और टैगोर की कुछ बाद की कविताओं में भी है। 19 गीतांजलि के अंग्रेजी अनुवाद (गीत 91) में, मृत्यु को ईश्वर एवं वर के रूप में व्यक्त किया गया है। काव्य व्यक्तित्व अपनी आखिरी आशा के रूप में मिलने की इच्छा व्यक्त करता है, 'हे जीवन की अन्तिम पूर्णता, मृत्यु, मेरी मृत्यु, आओ और मुझसे कानाफूसी करो! ... शादी के बाद दुल्हन अपने घर को छोड़कर एकान्त में अपने स्वामी से मिलेगी। रात की '(गीतांजलि, पीपी 59—60)

टैगोर की राधा फिर भी एक लोचदार भक्त एवं प्रेयसी है, जो आत्महत्या के विचारों और अपने सामाजिक अपमान पर ध्यान देना बन्द कर देती है। राधा प्यार में अपने परिवार का संमान, दोस्ती और सबसे बढ़कर अपनी आत्मा सब कुछ दाँव पर लगाती है। वह विनम्रता के साथ भगवान के संमुख आत्मसमर्पण करती है और अनन्त सुख की अपेक्षा करती है, राधा अन्धकार के देवता की स्वामिनी/ उसका आनन्द अनन्त हो सकता है! '(कविता 22, पृष्ठ 85)। हालाँकि, वह अफसोस जताती है कि उसे बहकाने की कला नहीं आती। राधा ने आत्म-निन्दात्मक लहजे में वर्ग-जाति के अन्तर पर भी जोर दिया और स्वयं को 'दुखनी अहीर जाति' के रूप में संबोधित किया, 'अहीर जाति' की एक व्यथित महिला। 20 कृष्ण के प्रति उनकी महत्वाकांक्षी भावना बनी रहती है, जैसे एक ओर, वह विरह में भी खुश रहने का प्रयास करती है, लेकिन दूसरी ओर, वह अपने दयनीय अस्तित्व को दर्शाती है।

19 वही, 109।

प्रेममय और अनुत्तरित ईश्वर : टैगोर, विद्यापति, जयदेव और भारती के यहाँ राधा

टैगोर, विद्यापति के विपरीत, प्रेम में भी कृष्ण की भेद्यता को रेखांकित करते हैं। मैथिली कवि के गीतों में, एक मानवीय ईश्वर राधा के जुनून को पूरी शिद्दत से प्रकट करता है और राधा की सहेली, दूती (संदेशवाहक) के माध्यम से अपनी पीड़ा व्यक्त करता है, जो कहती है, हे मित्र! कृष्ण के हृदय की पीड़ा अपरम्पार है/दुनिया को भूल जाते हैं, वह सब कुछ राधा, राधा 'विद्यापति की पदावली, कृष्ण की दूती', पृष्ठ 85 है। अपनी पदावली में, विद्यापति प्रेमियों के बीच मध्यस्थता करते दिखते हैं, और यहाँ उनकी सहानुभूति प्रकट रूप

से कृष्ण के साथ रहती है, 'आधा मृत माधव तब तक जीवित नहीं रह सकता, विद्यापति कहते हैं कि जब तक वह तुम्हारे होंठों का अमृत न पी लें' (87)। संदेशवाहक के त्रय के माध्यम से कृष्ण की प्रेम की लालसा का वर्णन करते हुए, विद्यापति जयदेव से प्रेरित प्रतीत होते हैं। 21 गीतगोविन्द की 'कमल-आँखों में कृष्ण लालसा' नामक एक कविता में, कृष्ण राधा की सहेली से पहले अपनी बेबसी का बखान करते हैं,' यहाँ रहो, तुम राधा के पास जाओ / उसे मेरी बातों से प्रसन्न करो और उसे मेरे पास लाओ! 'और फिर, उसके प्रियतम के दर्द की खबर राधा को सुनाई जाती है:

आपकी उपेक्षा उसके दिल को प्रभावित करती है,
रात के बाद दर्द का दर्द।
वन्यप्राणी-मालाधारी कृष्ण
अपनी मर्यादा में पीड़ित, मित्र। 22

20 अहीरों और यादवों का अक्सर परस्पर उपयोग किया जाता है। वे एक ही जाति का उल्लेख करते हैं, जो परम्परागत रूप से गाय-पालन और कृषि के लिए जाने जाते थे।

21 चूँकि विद्यापति जयदेव से प्रेरित थे, और उन्होंने मैथिली में वही स्थान प्राप्त करने का प्रयास किया, जो जयदेव ने संस्कृत में प्राप्त किया था, उन्हें 'नया (अभिनव) जयदेव भी कहा जाता है। विद्यापति की पदावली के लिए प्रकाशक का नोट देखें।

22 गीत गोविन्द का मिलर का अनुवाद, 90 देखें।

लेकिन टैगोर में, तिमिर के स्वामी को प्रेम में क्षीणता नहीं लगती है और न ही वह अपनी तीव्र लालसा व्यक्त करते हैं, क्योंकि कृष्ण ज्यादातर अपने गीतों में अनुपस्थित-उपस्थित बने रहते हैं। राधा की अन्तहीन पीड़ा की टैगोर के गीतों के समापन खण्ड में हृदयहीन कृष्ण 'की अन्तहीन उदासीनता से तुलना की जाती है, और प्रेम और विरह का प्रश्न एक खुला अन्त है। राधा पर विभिन्न गूढ़-कामुक आख्यानों में एक स्वच्छ संवरण की कमी है, जो कवियों को फिर से एकान्त प्रेम की कहानी को पुनर्जीवित करने के लिए प्रेरित करता है। उनके पौराणिक प्रेम की शाश्वत प्रकृति को प्रसिद्ध हिन्दी कवि धर्मवीर भारती ने अपनी रचना कनुप्रिया (1959) में खूबसूरती से प्रकट किया है, जहाँ एक आत्म-आश्वस्त राधा अपने स्वामी कनु/कृष्ण को उसकी अनुपस्थिति में संबोधित करती हैं:

अनन्त काल से, अनन्त दिशाओं में
तुम्हारे साथ-साथ चलती आ रही हूँ, चलती
चली जाऊँगी...
इस यात्रा का आदि न तो तुम्हें स्मरण है न मुझे
और अन्त तो इस यात्रा का है ही नहीं मेरे सहयात्री!। (कनुप्रिया, पृष्ठ 37)

भारती की राधा, युवा टैगोर के विपरीत, आश्वस्त है। वह इतिहास में अपनी जगह के महत्व को जानती है, और कभी भी अपने व्यक्तित्व को कम नहीं करती है। फिर भी, टैगोर की राधा की तरह, वह भी अपने प्यार के लिए अन्तहीन और अप्रतिबन्धित प्रतीक्षा करने को तैयार है:

तुम ने मुझे पुकारा था न!
मैं पगडण्डी के कठिनतम मोड़ पर
तुम्हारी प्रतीक्षा में
अडिग खड़ी हूँ, कनु मेरे! (कनुप्रिया, पृष्ठ, 79)

एक प्रेममयी राधा की प्रतिमा का अनायास इंतजार करते रहना आने वाले वर्षों तक कवियों, पाठकों और प्रेमियों को मोहित करता रहेगा।

उद्धृत कार्य

भारती, धर्मवीर, कनुप्रिया। नई दिल्ली: भारतीय ज्ञानपीठ, 1984।

चौधरी, रोजिंका। द रस्टल ऑफ लैंग्वेज। 'रबीन्द्रनाथ टैगोर 21वीं सदी के सैद्धान्तिक नवीकरण में। परम्पराओं और संस्कृतियों के अन्त:- सांस्कृतिक दर्शन में सोफिया का अध्ययन, भाग 7. देबाशीष बनर्जी। नई दिल्ली: स्प्रिंगर, 2015।

दास, सिसिर कुमार। भारतीय साहित्य का इतिहास 500-1399 दरबार से लोकप्रिय तक। नई दिल्ली: साहित्य अकादमी, 2005।

भारतीय साहित्य का इतिहास 1800-1910 पश्चिमी प्रभाव: भारतीय प्रतिक्रिया। नई दिल्ली: साहित्य अकादमी, 1991।

डी, सुशील कुमार। बंगाल में वैष्णव आस्था और आन्दोलन का प्रारम्भिक इतिहास। कलकत्ता: जनरल प्रिंटर्स एंड पब्लिशर्स लिमिटेड, 1942।

ग्रियर्सन, जॉर्ज अब्राहम। मैथिली क्रिस्टोमैथी और शब्दावली। 1881. संस्करण हेतुकर झा और वेदान्त झा। दरभंगा: कल्याणी फाउंडेशन, 2009।

जयदेव, गीतगोविन्द। लव सॉन्ग ऑफ द डार्क लॉर्ड। संस्करण और बारबरा स्टोलर मिलर। नई दिल्ली: मोतीलाल बनारसीदास, 1984।

कपूर, शुभकर। विद्यापति की पदावली। लखनऊ: गंगा पुष्पकमाला कार्यालय, 1968।

टैगोर एंड द फेमिनिन — ए जर्नी इन ट्रांसलेशन। संस्करण मालाश्री लाल। नई दिल्ली: सेज, 2015।

टैगोर, रबीन्द्रनाथ। भानुसिंघेर पदावली। भगवान रबीन्द्रनाथ टैगोर के प्रियतम। अनुवाद टोनी के स्टीवर्ट और चेस ट्विचेल। वाशिंगटन: कॉपर कैनियन प्रेस, 2003।

गीतांजलि (गीत)। परिचय। डब्ल्यू बी येट्स न्यूयॉर्क मैकमिलन कम्पनी, 1920, 59—60।

जीबनस्मृति। मेरी स्मृति, सुरेंद्रनाथ टैगोर। न्यूयॉर्क द मैकमिलन कम्पनी, 1917।

जीबनस्मृति—दा पिक्चर ऑफ माई अर्ली लाइफ प्रसेनजित साहा। परिचय। पैट्रिक कोलम होगन। कोलकाता: फ्रंटपेज, 2013।

टैगोर रचनावली, कविता खण्ड 1. एवं इंद्रनाथ चौधरी नई दिल्ली: सस्ता साहित्य मंडल, 2014, पृष्ठ 55-67।

Vasant aaval re 'Spring is Here'
Spring is here! Humming black bees wood covered with flower & laden mango trees- Listen to me' friend] my joyous heart goes restless… Decked with the beauty of spring mocks the universe
'O lovelorn Radha] where is your beloved] Madhav\' ºTransl Etion mine'
Maran 'Death'
You are my sole companion, Death What fear do I have now\
All my anÛieties are put to rest- Show me the way now-
'Fie] fie] you fickle & hearted Radha*, says Bhanu, Madhav is your lord] not Death
Now see for yourself-1 'Transl Etion mine'

अनुवादः अनुपमा शर्मा

रबीन्द्रनाथ टैगोर का काव्य साहित्यः शब्द और संगीत का संगम

–डॉ. वेदमित्र शुक्ल

सारः संस्कृत भाषा में, वाग्गेयकार शब्द एक यौगिक शब्द है, जो तीन शब्दों से बना है, वाक् (शब्द), गेय (संगीत), और कार (एक जो बनाता है)। एक वाग्गेयकार को दुर्लभ प्रतिभा का व्यक्तित्व होने की आशा की जाती है। वाग्गेयकार को भाषाई व्याकरण की गहन समझ, शब्दकोश में निपुणता, छन्द विद्या पर नियन्त्रण, रस सिद्धान्त का गहन ज्ञान, चौंसठ कलाओं की एक अन्तर्दृष्टि, एक बेहतरीन आवाज, पारम्परिक और समकालीन पद्धतियों के साथ अन्तरंगता, सभी सप्तक में सुरों को प्रस्तुत करने की क्षमता, तथा ऐसी ही अन्य योग्यताएँ होनी चाहिए। दुनिया में इस श्रेणी में कम ही नाम आते हैं। जहाँ तक भारतीय परम्परा का सम्बन्ध है, जयदेव (1200 ईस्वी), पुरन्दरदास (1484-1564), त्यागराज (1767-1847), हरिदास (1480-1575) और रबीन्द्रनाथ टैगोर (1861-1941) जैसे कवि-संगीतकारों को वाग्गेयकार के रूप में स्वीकार किया जा सकता है। प्रस्तावित पत्र में, टैगोर की कुछ चुनी हुई कविताओं को उन्हें एक वाग्गेयकार के रूप में ध्यान में रखते हुए फिर से देखने और समझने का प्रयास किया गया है। शब्दों और संगीत का एक सही और सार्थक मिलन उनकी कविता को एक साहित्यिक उत्कृष्टता प्रदान करता है। यह रबीन्द्रसंगीत के रूप में भी मुखर होकर आता है जो न केवल भारतीय संगीत, बल्कि पश्चिमी संगीत को भी समृद्ध बनाता है। आलेख में टैगोर की कविताओं के साथ उनमें उनके विशेष प्रयोग पर भी ध्यान केन्द्रित किया गया, जिसने उन्हें एक विश्व प्रसिद्ध नोबेल विजेता बनाया।

रबीन्द्रनाथ टैगोर (1861-1941) न केवल अपने साहित्य के लिए बल्कि अपने संगीत, चित्रकला, थियेटर और कई अन्य ऐसे विषयों जो कि मानवीय संवेदनशीलता की गहराई से उत्कीर्ण शानदार और सजीवात्मक श्रेष्ठता से अभिभूत हैं के लिए एक प्रसिद्ध व्यक्तित्व हैं। समग्र रूप से उनका व्यक्तित्व कई कलात्मक गुणों का एक अनूठा मिश्रण है जो उनके

लेखन और अभिव्यक्ति के अन्य माध्यमों से हमारे सामने आता है। दिनकर कौशिक उन्हें 'यूनिवर्सल मैन' के नाम से सम्बोधित करते हैं। वह लिखते हैं:

उनके (टैगोर) कार्य में व्याप्त विशालता— कविता, उपन्यास, नाटक, पत्र, निबन्ध में, या संगीत में, जहाँ उन्होंने दो हजार से अधिक गीतों की रचना की और उन्हें राग और ताल में उनके असंख्य प्रयोग से अपनी धुनों पर सेट किया, या पेंटिंग में, जहाँ उन्होंने एक उन्नत समय में, दो हजार पाँच सौ से अधिक चित्रों और कलाचित्रों को बनाया, वे चित्र जो चंचल कल्पना और बिम्बविधान और तकनीक के चमत्कार हैं जो उम्र की सीमाओं और प्रशिक्षण की कमी को बौना साबित करते हैं, शिक्षा में उनके प्रयोग जो आज भी उतने ही मान्य हैं जितने पहले थे जब पहली बार शुरू किए गए थे, जीने की रहस्यमय प्रफुल्लता में उनकी दार्शनिक अंतर्दृष्टि, उनका शानदार, सुन्दर शारीरिक ढाँचा, और जीवन की एकता का उनका रहस्यवादी अनुभव— ये सब निश्चित रूप से उन्हें एक सार्वभौमिक व्यक्ति के रूप में उनके कद को स्वीकार करने के लिए हमें प्रेरित करते हैं (पृ. 103)।

जहाँ तक एक कवि के रूप में टैगोर की बात है, वह एक विश्व-कवि हैं। यह कविता के क्षेत्र में उनकी सर्वोच्च उपलब्धि थी जब उन्हें सॉन्ग ऑफरिंग्स (गीतांजलि) के लिए 1913 में साहित्य का नोबेल पुरस्कार दिया गया था। यह उनकी बांग्ला कविताओं का संग्रह था जो उन्होंने अंग्रेजी में अनुवाद किया था। उनकी कविताएँ शब्दों और संगीत (दूसरे शब्दों में, साहित्य और संगीत) का एक सुन्दर मिश्रण है। ऐसी कविताएँ एक साधारण कवि की क्षमता से परे है। इस संबन्ध में, स्ट्रिकलैंड-ऍडरसन की टिप्पणी उल्लेखनीय है:

डॉ. टैगोर का भारतीय संगीत से रिश्ता अद्वितीय है। इसके किसी भी आवश्यक चरित्र को खोए बिना, उन्होंने अपने गीतों को एक निश्चित विषय देकर इनके रूप को आधुनिक बनाया है, अर्थात, संगीत के लिए अपने स्वयं के छन्द स्थापित करने में उन्होंने इसे निकाय और पदार्थ तथा आधुनिक अवधारणाओं के अनुसार एक स्वीकार्य संक्षिप्तता दी है (पृ. 465)।

कुछ विद्वान (जैसे स्ट्रिकलैंड-ऍडरसन और सुभास सरकार) उन्हें 'कवि-संगीतकार' या 'गायक-कवि' के रूप में संबोधित करते हैं। भारतीय संगीत परम्परा में, इस तरह के बहुमुखी व्यक्तित्व को दर्शाने के लिए एक संस्कृत शब्द वाग्गेयकार है। यह शब्द तीन शब्दों से बना एक यौगिक शब्द है, वाक् (शब्द), गेय (संगीत), और कार (जो बनाता है)। बी.सी. देव का कहना है कि वाग्गेयकार को भाषाई व्याकरण की गहन समझ, शब्दकोश में निपुणता, छन्दविद्या पर नियन्त्रण, रस सिद्धान्त का गहन ज्ञान, चौंसठ कलाओं की एक अन्तर्दृष्टि, एक बेहतरीन आवाज, पारम्परिक और समकालीन पद्धतियों के साथ अन्तरंगता, सभी सप्तक में सुरों को प्रस्तुत करने की क्षमता, तथा ऐसी ही अन्य योग्यताएँ होनी चाहिए। दुनिया में, ऐसे कुछ ही नाम हैं जो इस श्रेणी में आते हैं। जहाँ तक भारतीय परम्परा

का सम्बन्ध है, जयदेव (लगभग 1200 ईस्वी), पुरन्दरदास (1484-1564), त्यागराज (1767-1847), हरिदास (लगभग 1480-1575) और रबीन्द्रनाथ टैगोर (1861-1941) जैसे कवि-संगीतकारों को वाग्गेयकार के रूप में स्वीकार किया जा सकता है (देव, पृ. 65)। टैगोर को वाग्गेयकार के रूप में ध्यान में रखते हुए, उनकी कविता का अध्ययन विद्वानों को एक विशेष अनुभव प्रदान कर सकता है। प्रस्तुत पत्र में उनकी कविता और संगीत के बीच के असाधारण संबन्ध का विश्लेषण करने का प्रयास किया गया है। शब्दों और संगीत का एक सही और सार्थक मिश्रण उनकी कविता को साहित्यिक उत्कृष्टता प्रदान करता है। टैगोर स्वयं लिखते हैं: 'मैं चाहता हूं कि संगीत, कविता का साथी, लोहे की जंजीर से मुक्त हो जाए और उन्हें मिश्रित कर दिया जाए (संगीत चिन्ता, पृ. 2)।' इस तरह के संलयन के साथ, यह स्वीकार करना कठिन है कि कौन श्रेष्ठ है। । यह रबीन्द्रसंगीत के रूप में भी आता है जो न केवल भारतीय संगीत, बल्कि पश्चिमी संगीत को भी समृद्ध करता है। पत्र में टैगोर की कविताओं के साथ उनके प्रयोग पर भी ध्यान केंद्रित किया गया है, जिसने उन्हें एक विश्व प्रसिद्ध नोबेल विजेता बनाया।

अपने लड़कपन से ही टैगोर का गीतों के प्रति भावुक प्रेम खुद को प्रकट करना चाहता था और यह उनकी अनूठी कविता के रूप में दिखाई दिया। उनका मानना है कि इंसान की अभिव्यक्ति की समृद्धि केवल शब्दों में नहीं हो सकती है। संगीत भी होना चाहिए। जहाँ तक बंगाल में संगीत का संबन्ध है, एक स्वतन्त्र इकाई के रूप में (मुश्किल से संगीत रचना जैसे कि गत, किसी भी गीत के शब्दों का पालन किए बिना एक राग पर आधारित रचना), यह विलुप्त हो गयी है। टैगोर के अनुसार, शब्दों के बिना भी संगीत का अपना अस्तित्व है। लोगों द्वारा भगवान की स्तुति में गाया गया एक प्रकार का कीर्तन, इस तरह की कविता का एक उपयुक्त उदाहरण है जिसमें संगीत और कविता की अन्तर्निहित लयबद्ध पंक्तियों का एक सुन्दर मिश्रण मौजूद होता है। पारम्परिक कविता से कई अन्य उदाहरणों को भी उद्धृत किया जा सकता है। ऐसी कविता के महान प्रभाव के तहत, टैगोर संगीत के साथ शब्दों को अपने मुख्य उद्देश्य के रूप में एकजुट करने की आकांक्षा करते हैं। इस संबन्ध में, वह कहते हैं:

''बंगाल में कविता के साथ संगीत का विकास एक विचित्र चीज होगी। इसमें राग-रागिनियों की प्रथागत एकता नहीं होगी, क्योंकि यह कीर्तन में भी नहीं मिलता है। दूसरे शब्दों में, गाने अपनी विशिष्ट विशेषताओं को खो देंगे, वहाँ नियमों का नुकसान होगा क्योंकि शब्दों की शर्तों पर बातचीत करनी होगी। लेकिन, संगीत और शब्दों के बीच इस तरह के मिश्रण में, यदि पारस्परिक विशिष्टताओं को पारस्परिक रूप से तादात्म्य में समेकित नहीं किया जाता है, तो योग में सुन्दरता की कमी हो जाती है। इसके लिए, गीत में, शब्दों को आवश्यकतानुसार समझौता करना होता है, उन्हें धुन के लिए उद्देश्यपूर्ण होना

होता है। हालाँकि, इस प्रकार की कविताएँ और ललित कलाएँ, जैसा कि मुझे लगता है, धीरे-धीरे व्यापक होती जाएगी। कम से कम, मेरे स्वयं के काव्य के इतिहास में, ऐसे गीतों की रचना करना जिन्हें शब्दों को केवल संगीत के साथ एकजुट करना है, अब मेरा प्रमुख ध्येय बन गया है (घोष, पृ. 3)।''

यह संगीत और कविता का अद्‌भुत मिश्रण है जो उन्हें न केवल बंगाल में, बल्कि पूरे देश में लोकप्रिय बनाता है। उनकी कविताओं को निम्नतम और साथ ही उच्चतम वर्ग द्वारा गाया और पसन्द किया जाता है। टैगोर के आलोचक स्ट्रिकलैंड-ऍडरसन, टैगोर की लोकप्रियता के कारण का पता लगाने की कोशिश करते हैं, और लिखते हैं कि- ''उनकी रचनाएँ विषय के अन्तहीन पुनर्विचार और एकरसता से मुक्त हैं जैसा कि पुराने भारतीय तरीकों या विधियों में पाया जाता है।'इधर-उधर भटकने के बजाय, मेरू पर्वत पर देवताओं की अतिमानवीय गतिविधियों के राग-बद्ध अचिन्तित वर्णन के द्वारा उन्होंने संगीत के लिए अपनी सुन्दर वर्णनात्मक कविताएँ निर्धारित की हैं जो उनका एक हिस्सा है। और ये गीत शान्ति निकेतन स्कूल में छोटे बच्चों से लेकर उच्च स्तर के श्रोताओं जिन्होंने हाल के वर्षा महोत्सव में उनका संगीत सुना, से होते हुए विविध जनता तक पहुँचते हैं। उनकी कविता की तरह उनके गीतों में सार्वभौमिकता की गुणवत्ता है (पृ. 465-66)।''

स्ट्रीकलैंड-ऍडरसन आगे वर्षा-महोत्सव के गीतों (गीतांजलि, लवर्स गिफ्ट, क्रॉसिंग, आदि) के कुछ उदाहरण उद्धृत करते हैं और यह भी वर्णन करते हैं कि महोत्सव के दौरान शान्ति निकेतन में इन्हें कैसे गाया जाता था। वह लिखते हैं कि 'पूरा संगीत समारोह स्मृति के आधार पर होता था। ऑर्केस्ट्रा या गायकों के लिए कोई लिखित नोटेशन नहीं था (पृ. 472)।' लेकिन, धाराप्रवाह हाव-भाव के साथ इन गीतों की सुन्दर प्रस्तुति ने दर्शकों के लिए एक अभूतपूर्व वातावरण को बनाए रखा।

संगीत और कविता पर टैगोर के विचारों के लिए एक स्वीकृत धारणा के लिए, उनके तीन निबन्धों से होकर गुजरना अनिवार्य है जो भारती में प्रकाशित हुए थे: (i) 'म्यूजिक एंड आइडिया' (मई 1881), (ii) 'द ओरिजिन एंड नसेसिटी ऑफ म्यूजिक' (सितम्बर 1881), और (iii) 'म्यूजिक एंड पोएट्री' (जनवरी 1882)। ये सभी निबन्ध टैगोर द्वारा रचित एक संगीत नाटक, वाल्मीकि-प्रतिभा (1881) के संदर्भ में लिखे गए थे। यूरोपीय मुखर संगीत के प्रभाव में प्रदर्शन के लिए उन्होंने इसकी रचना की। टैगोर के निकट सहयोगी संतदेव घोष ने इस नाटक के गीतों को 'अंग्रेजी-उन्मुख बंगाली गीत' कहा है। वह 'कली कली बोलो रे आज' गीत का एक उदाहरण भी देते हैं। 'गीत में, शिकार पर जाने से पहले, सेंधमारों का एक समूह अपनी पूज्य देवी श्यामा माँ को मादक आवाज में अपनी प्रार्थना सुना रहा है। गीत की पहली चार पंक्तियों में धीमी लय से थिरकने का एक तुकान्त छन्द है, लेकिन पाँचवीं पंक्ति 'ओय घोर मत्ता करे नृत्य' से लेकर 'हा हा हा' तक द्रुत (जल्दी) है,

'आरे बल रे श्यामा मायेर जोय' से लय तोड़कर बाकी गीत को मध्यम लय (मध्य-गति) में गाना होगा (पृ. 48)।'

इस उदाहरण के माध्यम से वो दिखाना चाहते हैं कि टैगोर भारतीय संगीत में किए गए पक्तियों के विभाजन की प्रणाली के माध्यम से धुनों को सेट किए बिना ही एक के बाद एक पक्तियों के विचारों पर विचार करके शुरुआत से अन्त तक गायन के लायक गीत को बनाने से प्रेरित थे। टैगोर ने यह भी समझा कि गायन के समय शब्दों के चयन पर नजर रखते हुए, स्थान-स्थान पर लय का बदलाव करना भी आवश्यक है (पृ. 49)। तीनों निबन्धों में, टैगोर अपने संगीत नाटक को प्रमाणित करने के साथ ही संगीत और साहित्य के क्षेत्र में वाग्गेयकार या कवि-संगीतकार की भूमिका पर चर्चा करते हैं। अपने पहले निबन्ध, 'म्यूजिक एंड आइडिया' में, वह दृढ़ता से कविता और संगीत के बीच मिलन के पक्षधर हैं। वह लिखते हैं:

''राग-रागनी का उद्देश्य क्या था? निश्चित रूप से, यह विचारों को व्यक्त करने के अलावा और कुछ नहीं था। जब हम बोलते हैं, तब भी स्वर में सुर-संबन्धी भिन्नता और वायु में विविध रहस्य होते हैं ... संगीत की महत्ता में उन सुर-सम्बन्धी भिन्नता और वायु के रहस्यों को बढ़ाया जाता है। इसलिए केवल संगीत ही मानसिक अभिव्यक्ति का सबसे अच्छा माध्यम है। संगीत और कुछ नहीं बल्कि बेहतरीन तरीके से कविताएँ पढ़ना ही है। यही उचित विचार है कि हम गति में अपूर्णता से व्यक्त करते हैं, और पूर्णता के साथ राग-रागिनियों में व्यक्त किया जाता है। इसलिए राग-रागिनी का उद्देश्य केवल विचारों को व्यक्त करना है। संगीत के विशेषज्ञ उस विचार पर सभी का ध्यान आकर्षित करते हैं। कृपया पता करें कि एक विशेष राग-रागिनी में एक विशेष विचार क्यों होता है। उदाहरण के लिए, पूर्वी में हम शाम को क्यों याद करते हैं और भैरवी में, केवल सुबह (घोष, पृ. 29)''

दूसरे निबन्ध 'द ओरिजिन एंड नेसेसिटी ऑफ म्यूजिक' में, टैगोर अपने पहले निबन्ध, 'म्यूजिक एंड आइडिया' को जारी रखते हैं, और संगीत और कविता के अनूठे मिश्रण का वही विचार रखते हैं। इसी पंक्ति में, निबन्ध को और बारीकी से पढ़ने पर पता चलता है कि वाग्गेयकार के महत्व और आवश्यकता पर विचार व्यक्त किया गया है, जो एक कवि या संगीतकार से कहीं अधिक है। टैगोर लिखते हैं:

हम एक साथ विचारों और भावनाओं से परिपूर्ण दुगुने शब्द बोलते हैं। हमारे अन्दर भावनाओं की भाषा तात्कालिक खुशी के साथ स्पष्टता प्राप्त कर सकती है जो संगीत हमें प्रदान करता है। भावनाओं की भाषा ही संगीत की उत्पत्ति है। ... हमारे देश का संगीत ... अब तक सहजता से दूर हो गया है क्योंकि भावना और संगीत के बीच अलगाव हो गया है, राग-रागिनियों के उदाहरण और संरचनाओं के रूप में धुनों और अवशेषों के दलदल का

केवल एक पिण्ड ही बचा है। संगीत मैली छवि को प्राप्त कर चुका है— बेजान, हृदयहीन' हमारा स्वदेशी भावनाहीन संगीत सबसे अधिक विकृत प्रकार का है। जब तक हम इसमें भावनाओं को नहीं लाएँगे, हम उच्च क्रम के संगीतकारों के रूप में अपनी पहचान बनाने में असफल रहेंगे। (घोष, पृ. 33)

यह निबन्ध हर्बर्ट स्पेंसर के 'द ओरिजिन एंड फंक्शन ऑफ म्यूजिक' की प्रतिक्रिया में लिखा गया था, जिसमें उन्होंने टिप्पणी की थी: 'इस भावनात्मक भाषा के विकास को सुविधाजनक बनाना ही संगीत का कार्य है' हम संगीत को उस उच्च खुशी की उपलब्धि के रूप में मान सकते हैं जिसे वह मामूली तौर पर सहेजता है (पृ. 75)।' हम पाते हैं कि स्पेंसर की तरह, टैगोर भी संगीत को भावना की भाषा के रूप में लेते हैं।

तीसरा निबन्ध, 'म्यूजिक एंड पोएट्री', उच्च स्तर के संगीतकारों अर्थात वाग्गेयकार की अपनी अवधारणा पर अधिक प्रकाश डालता है। टैगोर अपनी नियत और गतिहीन प्रकृति के कारण केवल संगीत (जैसे कि गत) के साथ-साथ बिना धुन के केवल शब्दों (कविताओं) की भी आलोचना करते हैं। संगीत और कविता के मिश्रण की सराहना करने के लिए वह कहते हैं कि 'शब्दों का विचार धुनों पर निर्भर करता है। एक ही शब्द विभिन्न धुनों में अगल अर्थ व्यक्त करता है। दोनों, शब्दों और धुनों को विचारों की अभिव्यक्ति के अन्तर्गत मौजूद पक्ष माना जा सकता है। हमारी भाषा की भावनाएँ धुन 'अर्थात संगीत, और शब्दों (अर्थात कविता) की भाषा के मिलाप से निर्मित होती हैं (घोष, पृ. 34)।

कविता में अपने सिद्धान्त को लागू करने के लिए टैगोर उत्तर भारतीय शास्त्रीय संगीत परम्परा के साथ-साथ स्थानीय लोक संगीत परम्पराओं (जैसे टप्पा, तरजा, कोबिगान, पांचाली, जात्रा, बाउल, भटियाली, कीर्तन, ठुमरी आदि) का सहारा लेते हैं। कई जगहों पर, संगीतचिन्ता में, वह लोक संगीत के लिए अपनी आत्मीयता और अपनी कविता पर इसके प्रभाव के बारे में बात करते हैं। बाउल संगीत भारतीय लोक संगीत के विभिन्न रूपों में से एक है। उसी पुस्तक में, वह अपनी कविता पर बाउल गीतों के प्रभाव के बारे में लिखते हैं। वह लिखते हैं:

''जिन लोगों ने मेरे लेखन को पढ़ा है, वे जानते हैं कि मैंने अपने कई लेखों में बाउल पदावली के प्रति अपनी श्रद्धा व्यक्त की है। जब मैं सियालदाह में था, तब मैं बाउलों के समूह के साथ मिलता था और बात करता था। मेरे कई गीतों में, मैंने उनकी धुनों को स्वीकार किया है, और कई गानों में उनकी धुनों का सामंजस्य अन्य धुनों के साथ स्वयं की जानकारी या जानकारी के बिना ही किया है। इससे, यह समझा जा सकता है कि बाउलों के सुर और शब्द एक निश्चित अवधि में, आसानी से मेरे भीतर घुलमिल जाते हैं। मैं नहीं मानता कि लोक साहित्य में कहीं और ऐसी कोई प्रतिभा उपलब्ध है (संगीतचिन्ता, पृ. 311)''

संगीतात्मकता उनके सभी प्रकार के कार्यों की एक अनिवार्य विशेषता है। यहाँ तक कि अनुवाद का काम भी अपवाद नहीं है। डब्ल्यू. बी. यीट्स, एडवर्ड थॉम्पसन, बुद्धदेव बोस और कई अन्य आलोचकों को टैगोर के सॉन्ग ऑफरिंग्स (गीतांजलि) के प्रभावशाली संगीत की प्रशंसा करते हुए पाया जाता हैं। पुस्तक की शुरुआत में, यीट्स लिखते हैं:

रबीन्द्रनाथ टैगोर, चासर (अंग्रेजी कवि) के अग्रदूतों की तरह, अपने शब्दों के लिए संगीत लिखते हैं, और प्रत्येक व्यक्ति हर पल समझता है कि वह इतने प्रचुर हैं, इतने सहज हैं, अपने जुनून में इतने साहसी हैं, आश्चर्य से भरे हैं, क्योंकि वह कुछ ऐसा कर रहे हैं जो कभी भी अजीब, अप्राकृतिक, या ऐसा नहीं लगता कि उसे संरक्षण की आवश्यकता है। ये छन्द महिलाओं की मेज पर छोटी-छोटी छपी हुई किताबों में नहीं होंगी, जो उन पन्नों को अभद्र हाथों से पलट देती हैं, जिन्हें वे बिना अर्थ के जीवन भर आह भर सकते हैं, जो अभी तक वे सभी जीवन के बारे में जान सकते हैं, या जब जीवन के कार्य प्रारम्भ हो तो छात्रों द्वारा विश्वविद्यालय में उन्हें लाकर एक तरफ रख दिया जाए, लेकिन जैसे-जैसे पीढ़ियाँ गुजरेंगी, यात्रियों को उनको राजमार्ग पर और पुरुषों को नदियों में गुनगुनाते हुए देखेंगे। प्रेमी, जबकि वे एक-दूसरे की प्रतीक्षा करेंगे, उन्हें गुनगुनाते हुए, ईश्वर का यह प्रेम एक जादूई लहर मिलेगी, जिसमें युवा अपने कड़वे जुनून को धो सकते हैं और यौवन का नवीनकरण कर सकते हैं (पृ. x-xi)।

अपनी कविताओं के साथ-साथ वेस्टर्न स्टाफ नोटेशन में संगीत देने के लिए, टैगोर ने स्कॉटलैंड के एक संगीतकार आर्थर गेडेस, और एक डच संगीतकार अर्नोल्ड एडिंयन बेक को अपने से जोड़ा। उन्होंने स्टाफ नोटेशन में उनके गीतों को प्रसारित किया (फैरेल, पृ. 160)। इसके अलावा, 'संगीत में टैगोर की जीवन्त रुचि और उनकी कविता पर उसके संमोहक प्रभाव' को मंजूरी देने के उद्देश्य से, सुभाष सरकार ने सॉन्ग ऑफरिंग्स में 'संगीत के आवर्ती संयुग्मन' को 'दिस फ्लूट ऑफ रीड', 'मेलोडियस इटर्नली' (कविता संख्या 1 में), 'कमेंड मी टु सिंग,' 'मेल्ट्स इनटू वन स्वीट हारमोनी,' 'डिंक विद द ज्वॉय ऑफ सिंगिंग' (कविता संख्या 2), 'द लाइट ऑफ दाइ म्यूजिक इल्युमिनस,' (कविता संख्या 3 में), दिस चौंटिंग एण्ड सिंगिंग' (कविता संख्या 11 में), 'अनस्ट्रिंगिंग माइ इंस्ट्रूमेंट' (कविता संख्या 13 में), 'लाइफ कैन ओन्ली ब्रेक आउट इन टून्स' (कविता संख्या 15 में), 'देन दाइ वर्ड्स विल टेक विंग इन सांग्स, 'मेलोडीज विल ब्रेक फोर्थ इन फ्लॉवर्स' (कविता संख्या 19 में) आदि के उदाहरणों द्वारा दिखलाया है (पृ. 178-179)।

यहाँ, यह ध्यान देने योग्य है कि अपनी कविता को संगीतमयता प्रदान करने के लिए टैगोर ने महानता की सरलता, आध्यात्मिक रूप से आत्मनिरीक्षण का रहस्यवाद, पुराने भारत का अपरिभाष्य रहस्य, और प्रकृति की सुन्दरता को अपने गीतों में कभी नहीं खोया। कला, साहित्य और संगीत का विरासत में मिला माहौल, और उनकी खुद की चमक

उनकी रचनाओं में संगीत और साहित्य के उत्कृष्ट संयोजन की सुविधा प्रदान करती है। अलग-अलग रूपों में, उन्हें एक संगीतकार, एक साहित्यिक व्यक्ति, एक कलाकार, एक दार्शनिक, एक शिक्षाविद के तौर पर लिया जा सकता है, लेकिन, पूर्णता और समग्रता के साथ, वह पहली श्रेणी के वाग्गेयकार अर्थात् कवि-संगीतकार हैं।

सन्दर्भ ग्रंथः

देव, बी. सी. इंडियन म्यूजिक. नई दिल्लीः न्यू एज इंटरनेशनल (प्राइवेट) लिमिटेड, 2002।

फैरेल, गेरी. इंडियन म्यूजिक ऍड द वेस्ट. न्यूयॉर्कः ऑक्सफोर्ड यूनिवर्सिटी प्रेस, 1997।

घोष, शांतिदेव. रबीन्द्रसंगीत विचित्र (मोहित चक्रवर्ती द्वारा अनुवादित)। नई दिल्लीः कॉन्सेप्ट प्रकाशन कंपनी, 2006.

कौशिक, दिनकर। 'रबीन्द्रनाथ —द यूनिवर्सल मैन।' रबीन्द्रनाथ टैगोर एंड द चैलेंज ऑफ टूडे. संपादक भूदेव चौधरी और के जी सुब्रमण्यन। शिमलाः IIAS, 1988. पृ. 95-111।

सरकार, सुभास। 'म्यूजिक इन टैगोर्स पोएट्रीः एन इन्साइट इन्टू सॉन्ग ऑफरिंग्स।' स्टडीज ऑन रबिन्द्रनाथ टैगोर। संपादक मोहित के. रे. (भाग प्रथम). नई दिल्लीः अटलांटिक पब्लिकेशन एंड डिस्ट्रिब्युशन, 2004. पृ. 172-180.

स्पेंसर, हर्बर्ट। लिटररी स्टाइल एंड म्यूजिक। लंदनः वाट्स एंड कम्पनी, 1950।

स्ट्रिकलैंड-एंडरसन, लिली। 'रबीन्द्रनाथ टैगोर— पोएट कम्पोजरः एन अप्रेसिएशन। 'द म्यूजिकल क्वार्टर्ली 10.4। ऑक्सफोर्ड यूनिवर्सिटी प्रेस, अक्टूबर 19। पृ. 463-474।

टैगोर, रबीन्द्रनाथ। संगीतचिन्ता। कोलकाताः विश्वभारती, 1966।

यीट्स, डब्ल्यू. बी. 'इंट्रोडक्शन।' सॉन्ग ऑफरिंग्स। दिल्लीः मैकमिलन, 1913।

(सुनील चौरसिया द्वारा अंग्रेजी से हिन्दी में अनुदित)
सहायक प्रोफेसर, अंग्रेजी विभाग
राजधानी महाविद्यालय, दिल्ली विश्वविद्यालय, राजा गार्डन-110015
ई-मेलः vedmitra-s@gmail-com
मोबाईलः 9953458727, 9599798727

हमारे नये प्रकाशन

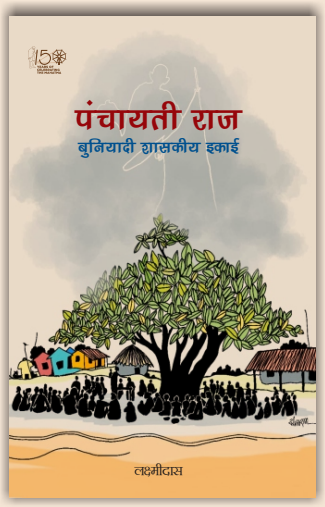

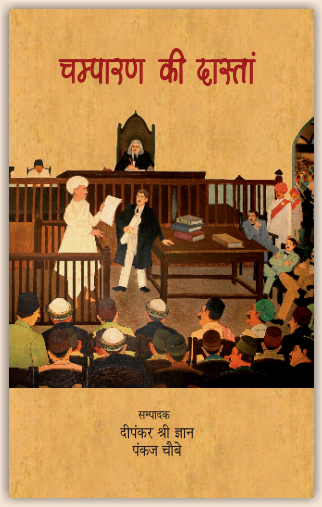

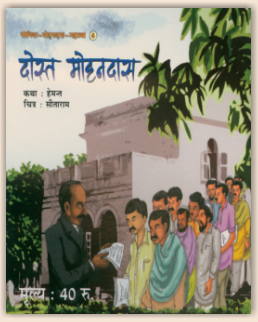

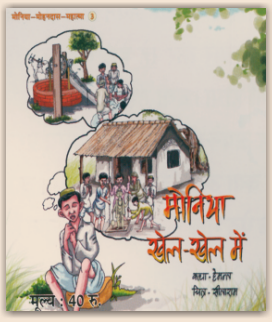

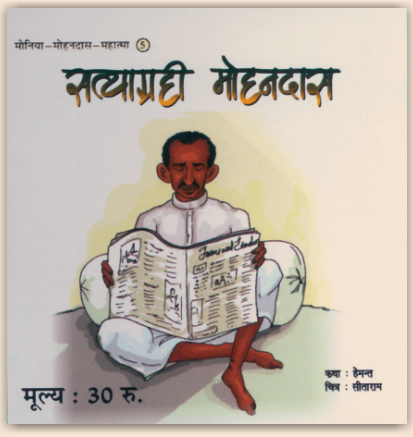

सम्पर्क:

गांधी स्मृति एवं दर्शन समिति

गांधी दर्शन, राजघाट, नई दिल्ली-110 002

फोन : 23392710, 23392709, 23011480, 23012843

फैक्स : 91.11.23011480, 23392706

ई-मेल : 2010gsds@gmail.com www.gandhismirti.gov.in

RN - DELHIN/2006/16304

गांधी स्मृति एवं दर्शन समिति
(स्वायत्त निकाय, संस्कृति मंत्रालय, भारत सरकार)

अनामिका दर्शना

गांधी-टैगोर अंक

गांधी स्मृति एवं दर्शन समिति